कमलापति मिश्र को—

कवि के विषय में

सस्कृत के मूर्धन्य कवि और नाटककार कालिदास का स्थान देश-विदेश के साहित्य-मनीषियो ने ससार के अप्रतिम रचनाकारो मे माना है। सर विलियम जोन्स ने अठारहवी सदी के अन्त मे जब 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अग्रेजी अनुवाद छापा तब न केवल अनेक यूरोपीय भाषाओ मे उसके एक के बाद एक अनुवाद छपे बल्कि पाश्चात्य ससार मे इस स्तर के भारतीय कवि के होने की सभावना ने एक अचरज की लहर दौडा दी।

पश्चिम के साहित्यकारो पर उस कृति का तत्काल प्रभाव पडा और तब के यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र के अग्रणी गेटे और शिलर ने उसे प्रभूत सराहा और शाकुन्तल के शिल्प का क्रमश अपने 'फाउस्ट' और 'वन्दिनी रानी' नाम की रचनाओ मे उपयोग किया। गेटे ने तो शाकुन्तल के रागात्मक प्रभाव के वशीभूत हो जो उद्गार निकाला, वह कवियो के लिए दाह का कारण और कालिदास के लिए यश की अमर वाणी बन गया।

निवास—भारतीय कवियो की परम्परा के प्राण होने के कारण कालिदास ने अपने कार्यकाल और निवास के सबध मे ससार को कोई सूचना नही दी। परिणामतः दोनो विषयो मे

किसी की हमे जानकारी नही और विभिन्न अनुमानो के बावजूद हम आज भी उस दिशा मे प्राय. शून्य मे ही देख रहे हैं। इसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि परिस्थिति ने हमारे कवि को देशकालातीत एक अमर पद प्रदान कर दिया है।

कालिदास के ग्रंथो के गहरे अध्ययन से विद्वानो ने निष्कर्ष निकाल उनके निवास और कार्यकाल के सबध मे जो अटकल लगाए है उनसे एक गहन वन ही खडा कर दिया है जिससे उस दिशा मे भटक सकना भी कठिन हो गया है। फिर भी जो उपलब्ध है उससे तथ्य का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पहले जन्म-स्थान और निवास—बगाल, उडीसा, मध्यप्रदेश, कश्मीर सभी को कालिदास का निवासस्थान होने का समय-समय पर विद्वानो के तर्क से श्रेय मिला है। इन तर्कों की युक्तिसगत स्थापनाओ मे अधिक सच्चाई की सभावना कश्मीर और मध्यप्रदेश के सबध की है। 'ऋतुसहार' मे जिन षड् ऋतुओ का कवि ने घना परिचय दिया है वे सर्वथा मध्यप्रदेश की है। 'मेघदूत' का नायक यक्ष जिस रामगिरि पर प्रवास करता है वह नागपुर के पास का रामटेक है। मेघ को उत्तर अलका की ओर भेजते हुए कवि ने जो रामगिरि से उत्तरोत्तर मार्ग का सविस्तर उल्लेख किया है वह मध्यप्रदेश के छोटे-बडे सभी स्थानो, छोटी-बडी सारी जलधाराओ का कवि का घनिष्ठ ज्ञान प्रकट करता है। वैसे तो नि सन्देह उत्तरापथ के मार्ग पर पडने-वाले सभी स्थानो से कवि यथेष्ट परिचित है पर मध्यप्रदेशीय स्थलो के वर्णन मे तो वह रागविभोर हो उठता है। प्रसिद्ध है कि उज्जयिनी का, उत्तर के मार्ग से हटकर टेढा पडना स्वीकार करके भी कवि मेघ को उधर मुडकर उस नगर के महाकाल तथा वहाँ की नारियो के भ्रू विलास के दर्शन कर अपना भाग्य सफल कर लेने का आग्रह करता है। निश्चय कवि का यह आग्रह मध्य-प्रदेश से उसके घने और दीर्घ सबध का प्रमाण है।

कश्मीर का भी कालिदास ने प्रकट उल्लेख नही किया। पर

ह्रदो-सरोवरो और उनको ढक देनेवाले कमलवनो का जो कवि ने वर्णन किया है उसका सकेत डल, ऊलर आदि कश्मीरी झीलो के प्रति अनेक विद्वानो ने माना है। धान के विविध प्रकारो—शालि, कलमा आदि—का जो कवि ने उल्लेख किया है वे हिमालय मे अन्यत्र प्राप्य होकर भी विशेषत कश्मीर की घाटी के हैं। और एक उल्लेख तो निश्चय जैसे कालिदास को उस घाटी से बाँध देता है। किसी कश्मीरभिन्न सस्कृत कवि ने कभी कश्मीर अथवा उसके उत्तर-पश्चिम वाल्हीं (वह्लीक, बदख्शाँ) मे हाने वाले केसर की पौध और फूल का वर्णन नही किया, केवल कालिदास ने आँखदेखा वर्णन किया है। हिमालय के प्रति तो कवि का आग्रह इतना घना है कि 'कुमारसभव' का समूचा कथानक और 'मेघदूत' का पूरा उत्तरार्ध उसी पर्वत की उपत्यकाओ मे घटते है, फिर 'रघुवश', 'शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशी' के भी अनेक स्थलो का सबध हिमालय से है। विशेषकर मेघदूत मे विवश प्रवासित यक्ष के उद्गार तो केवल कल्पना से सभव हो ही नही सकते, निश्चय किसी एसे के हैं जो कारणविशेष से लाचार हो स्वेदश से निष्कासित कर दिया गया हो और स्वदेश को भूल न पाता हो।

परिणामत यह स्वीकार करना अयुक्तियुक्त शायद न हो कि कालिदास ने जन्म कदाचित कश्मीर मे लिया और कारणवश वहाँ से हट जाने से उन्हाने मध्यप्रदेश को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। परम्परया उनका विक्रमादित्य की राजसभा का रत्न होना भी उनके उस राजा की दूसरी राजधानी उज्जयिनी मे दीर्घकाल तक निवास को प्रमाणित करता है जिसके प्रति कवि का 'मेघदूत' म विशेष आग्रह है।

कार्यकाल—कवि के निवासस्थान की भाँति ही उसका कार्यकाल निश्चित करना भी आसान नही, यद्यपि साधारणत वह काल पाचवी सदी ईसवी माना गया है। कवि इतना लोकप्रिय हो गया था कि उसके पीछे अनेक कवियो ने उसका नाम

अपना लिया और इस प्रकार संस्कृत मे तीन-तीन कालिदास होने की सम्भावना उत्पन्न कर दी। पर इस सम्बन्ध मे प्राय निर्णय यही है कि प्रसिद्ध कालिदास पहले कालिदास ही थे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन, जिन्होने 'रघुवश' आदि काव्यो और 'शाकुन्तल' आदि नाटको की रचना की।

यहां कालिदास के काल-निर्णय के सम्बन्ध मे दो शब्द विशेष लिख देना समीचीन होगा। परम्परा के अनुसार कालिदास ५६ ई० पू० के किसी विक्रमादित्य के नवरत्नो मे से थे। पर ऐतिहासिक विवेचन से पता चलता है कि न तो प्रथम शती ईसवी पूर्व मे कोई विक्रमादित्य ही हुआ और न नवरत्नो में गिनाये जानेवाले क्षपणक आदि व्यक्ति ही परस्पर समकालीन थे। इस सम्बन्ध मे विशेषत बौद्ध भिक्षु अश्वघोष के काव्य 'बुद्ध-चरित' मे कालिदास के 'रघुवश' और 'कुमारसम्भव' के सभावित अवतरणो की ओर सकेत किया गया है। कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया या अश्वघोष ने कालिदास का, इसका निर्णय भी स्पष्ट प्रमाणो के अभाव मे अभी नही किया जा सकता, यद्यपि सभावना अश्वघोष के ही कालिदास का पूर्ववर्ती होने की प्रतीत होती है। कालिदास की कृतियो के आन्तरिक प्रमाणो से पांचवी सदी ईसवी मे ही कवि का होना अधिक युक्तियुक्त लगता है।

गुप्तकाल मे सपादित पौराणिक आख्यानो, परम्पराओ और तभी अनत सख्या मे प्रसूत देवमूर्तियो का उल्लेख, भारतीय कला मे प्राय पहली बार कुषाणकाल मे निर्मित क्रमश मकर और कच्छप पर खडी चमरधारिणी गगा तथा यमुना की मूर्तियो का वर्णन, मात्र गुप्तकालीन मूर्तियो की उंगलियो के जालग्रथित (शाकु तल, अक ७—जालग्रथितागुलि कर —देखिए 'मानकुंवेर' बुद्धमूर्ति व अतिरिक्त अनेक अन्य, लखनऊ सग्रहालय) अभिप्राय (मोटिफ) का उल्लेख, कुषाण गुप्तयुगीन बुद्ध मूर्तियो की अखण्ड समाधि का वर्णन, गुप्त सम्राटो के अभिलेखो और मुद्रालेखो

तथा कालिदास की भाषा में घनी समता; कवि की रचनाओं में वर्णित शांति और समृद्धि; प्रायः तीसरी सदी ईसवी के वात्स्यायन के कामसूत्रों का कवि पर असंदिग्ध प्रभाव; ग्रीक ज्योतिष के 'जामित्र' आदि पारिभाषिक शब्दों का उपयोग; पांचवी सदी ईसवी में वक्षुनद (आमू दरिया) की घाटी मे बसनेवाले हूणों की रघुद्वारा पराजय—सभी कालिदास की गुप्तकालीनता प्रमाणित करते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अन्त में पुष्यमित्रों और हूणों ने गुप्तकालीन शांति नष्ट कर दी। इससे कवि के कार्यकाल का अन्त ४४६ ई० में (४५० ई० के पुष्यमित्रों के साथ हुए स्कन्दगुप्त के युद्ध के पहले) रखा जा सकता है। परन्तु यदि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने संकेत किया है तब संभवतः वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहा होगा। कालिदास ने लिखा बहुत है फलतः स्वाभाविक ही उनका कृतित्व दीर्घकालिक रहा होगा। यदि मानें कि वे अस्सी बरस तक जिये तो, इस गणना के आधार पर, उनकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग कभी हुई होगी, और तब उनके जन्म की तिथि ३६५ ई० के लगभग कभी मानना समुचित होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल में जन्म लेकर कवि ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समूचे शासन और कुमारगुप्त के शासन के अधिकतर काल तक अपनी लेखनक्रिया जागृत रखी होगी। अतः कालिदास ने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देख लिया होगा क्योंकि पुष्यमित्रों की पराजय करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम-से-कम २० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि कालिदास ने २५ वर्ष की अवस्था मे अपना कविकर्म आरम्भ किया हो तो उनकी पहली कृति 'ऋतुसंहार' ३६० ई० के लगभग लिखी गई होगी और उनका रचनाकाल प्रायः उस अवधि के अधिकतर भाग पर फैला रहा होगा जिसे हम साधारणत. भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं।

कविकार्य—कालिदास की प्रायः सर्वस्वीकृत कृतियाँ सात हैं। तीन नाटक और चार काव्य। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक है, 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' काव्य। कालिदास के एक और काव्य 'कुन्तलेश्वर दौत्य' का भी उल्लेख मिलता है पर उसकी कोई प्रति अभी तक उपलब्ध नही हो सकी।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' संस्कृत नाट्य-साहित्य का चूड़ामणि है। नाट्य-समीक्षकों ने इसे विश्व के साहित्य की सुन्दरतम कृतियों मे गिना है। इसके सात अंकों मे कवि ने महाभारत की एक कथा का नाटकीय नवनिर्माण किया है। विक्रमोर्वशी त्रोटक है। इसका कथानक ऋग्वेद से लिया गया है। इसके घटनाचक्र का प्रसार पृथ्वी से स्वर्ग तक है और उसका विकासशिल्प असाधारण एवं सुखात है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों की दिशा मे कवि की संभवतः पहली रचना है। इसमे कवि से प्रायः ६०० वर्ष पहले के सेनापति सम्राट् पुष्यमित्र शुंग के पुत्र बहु-पत्नीक राजा अग्निमित्र और उसकी प्रेयसी मालविका के प्रणय का नाट्याकन है।

'रघुवंश' १९ सर्गो का महाकाव्य है, महाकव्य के परिगणित सारे गुणों से संयुक्त। इसमें कालिदास ने वाल्मीकि रामायण की पद्धति से काव्यरचना की है और रामायण तथा पुराणो के सूर्यवंशी शासकों की क्रियाशीलता को अत्यन्त कुशलता एवं सूक्ष्मता से सर्गबद्ध कर दिया है। महाकाव्य शैली की कृतियों में 'रघुवश' पहली और आदर्श रचना है। 'कुमारसम्भव' भी महा-काव्य है पर सभवतः कवि उसे पूरा न कर सका। इसी कारण विद्वान् इसके केवल आठ पहले सर्ग प्रामाणिक मानते है। यह भी पीछे अनेक सर्ग जोडकर महाकाव्द की परिगणित सर्ग-सख्या द्वारा पूरा कर दिया गया है, पर वह बहुत पीछे किसी अन्य कवि द्वारा लिखा गया है। स्वयं यशस्वी टीकाकार मल्लिनाथ ने उनकी प्रामाणिकता अस्वीकार कर केवल आठ सर्गों पर ही टीका

लिखी है। 'कुमारसम्भव' का कथानक हिमालय की उपत्यका मे प्रारभ होता है और उमा तथा शिव के विवाह से सबधित है। काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णनो से भरा है। 'मेघदूत' की पाश्चात्य समीक्षको ने भूरि-भूरि प्रशसा की है। खण्ड-प्रबन्ध के रूप मे ससार का यह पहला गीतिकाव्य—लिरिक—है। वैसे तो साफो आदि प्रसिद्ध नव ग्रीक लिरिक कवियो ने कालिदास से प्राय हजार साल पहले लिरिक लिखना आरभ कर दिया था पर प्रबध-लिरिक के रूप मे कोई स्वतत्र काव्य कालिदास से पहले किसी देश मे नही लिखा गया। अनेक यूरोपीय भाषाओ मे 'मेघदूत' का अनुवाद हो चुका है। इसमे मदाक्राता नाम के एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और इसके श्लोको की सख्या केवल १२० है। स्वय सस्कृत साहित्य म इस काव्य का बार-बार अनुकरण हुआ है। इसी की छाया मे प्रसिद्ध जर्मन लिरिक कवि शिलर ने स्काटो की रानी का 'वन्दिनी रानी' शीर्षक से चरित लिखा जिसमे उसने उसकी ओर से उसके स्वदेश स्काटलैंड को बादलो से सदेश भेजा। 'ऋतुसहार' कालिदास की प्रत्यक्षत प्राथमिक कृति है। यह भारत की छहो ऋतुओ का क्रमिक वर्णन करता है, मस्त और जीवन्त। ऋतुओ के प्राणवान् चित्र एक के बाद एक काव्यपथ पर उतरते चले जाते हैं और निसर्ग जैसे ऋतु-ऋतु उघडता चला जाता है। काव्य का प्रमुख विषय प्रकृति ही है, पर सारी ऋतुओ का एकत्र इतना मासल रूपायन स्वय कवि ने अन्यत्र नही किया, अन्य कवियो की कृतियो मे तो उसका अभाव है ही। कवि की इन रचनाओ मे भारत के सामुदायिक और वैयक्तिक जीवन की अनन्त राशि खुल पडी है।

कृतियो की उत्तरोत्तर प्रौढता के विचार से उनका सभावित क्रम इस प्रकार है ऋतुसहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, मेघदूत, कुमारसभव, रघुवश और अभिज्ञान शाकुन्तल।

शैली—कालिदास की अन्य सस्कृत कवियो से विशिष्टता उनकी सहज शैली तथा प्रसाद गुण म है। भाषा के ऊपर किसी

सस्कृत कवि का इतना अधिकार नही। कवि की सारी रचनाएँ उस वैदर्भी शैली मे सम्पन्न हुई है जिसकी दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' मे स्तुति की है। कालिदास की उपमाएँ अपनी सूक्ष्मता और औचित्य के कारण जगत्प्रसिद्ध है। उनकी कल्पना अनन्य साधारण और अदभुत गतिमती है। मानव हृदय के ज्ञान की सूक्ष्मता मे यह कवि सर्वथा अनुपम है, सुकुमार निरूपण और भावो तथा आवेगो के वर्णन मे अद्वितीय।

अपने नाटको मे कवि ने सस्कृत की परम्परा के अनुकूल ही सस्कृत और प्राकृतो का उपयोग किया है। गद्य के लिए वह शौरसेनी का उपयोग करता है, पद्य के लिए महाराष्ट्री का। 'अभिज्ञान शाकुन्तल मे 'नागरिक' और धीवर' मागधी बोलते है, पर स्याला शौरसेनी बोलता है।

कवि ने अपनी रचनाओ मे अत्यन्त कुशलता से निम्नलिखित छन्दो का उपयोग किया है आर्या, श्लोक, वसततिलका, शार्दूलविक्रीडित उपजाति प्रहर्षिणी शालिनी, रुचिरा स्रग्धरा, रथोद्धता, मजुभाषिणी, अपरवक्त्रा औपच्छदसिका, वैतालिक, द्रुतविलवित, पुष्पाग्रिता, पृथ्वी, मदाक्राता, मालिनी, वशस्य, शिखरिणी, हारिणी, इद्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वाती, त्रोटक और महामालिका।

१

कवि का विम्ब

श्वेताभ कनक वरन काया। ऊंचा माथा। सुती सीधी पतली नाक। वृत्ताकार चिकने कपोल भरे फूले, जहाँ-तहाँ सुनहरे रोयें। गहरे नीले नयन। घुँघराले पिंगल घन कुन्तलों के कटे काकपक्ष। घुटनों के ऊपर सकच्छ धोती, ऊपर का गात विवसित। कानों मे वलय, कलाइयों में कंकरण—बाल कालिदास।

× × ×

अष्टाध्यायी रटते-रटते नयन आक्षितिज फैली स्फुटपुष्प-हासिनी उपत्यका की छोरों तक निर्बन्ध दौड़ जाते हैं। पाठ बंद कर वह तितलियों के पीछे सहसा दौड पडता है। फूलों को देखता चुप बैठ जाता है। उनके रंग, उनकी पंखुडियाँ, उन पर भौंरों की चोट—गुनने लगता है—क्या इनके डंक पंखुड़ियों को चुभ नही जाते ?

पाठ करने लगता है। हारिलों की आवाज़ सुन नेत्र अनायास ऊपर उठ जाते हैं। हारिल पाँत बाँधे उड़े जा रहे हैं। पाठ बिसर जाता है। आँखें सरोवर की ओर भटक जाती है—हंसो के जोड़ों की ओर जो एक कमलपत्र की छाया से दूसरे की छाया की ओर सरक जाते हैं। कमण्डल के डोलने से जल की

लहरियाँ हल्की नाच पडती है। वह हँसता है। गुनगुना पडता है।

विसरे पाठ को याद आती है—वेद की ऋचा गा उठता है। ऋचा-पर-ऋचा स्मृतिपटल पर चढती, काँपती ध्वनि की राह उतरती चली जाती है। सब कुछ कण्ठ है, याद है—उपाध्याय भर्त्सना नही करेंगे। अष्टाध्यायी के सूत्र भी कण्ठ हैं, कात्यायन के वार्तिक भी। कठोर हैं यह कात्यायन, कोमल है भाष्यकार पतंजलि, पाणिनि की ही भाँति। वटु कालिदास।

× × ×

मसें भीग चली हैं। कचन तप चला है। कपोलो का वृत्त अडाकार हो चला है। नाक उठ आयी है। नयन तीखे हो चले हैं। चिवुक नुकीला हो गया है। काकपक्ष कुन्तलो मे खोये, पिंगल केश स्नेह के उपयोग से श्यामायित हो गये हैं। किशोर वय है अब उसका।

व्याकरण, निरुक्त, वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, धर्मशास्त्र, पुराण।

बैठा है छितवन की छाँव। कहता है—सन्ध्या कितनी स्निग्ध है, दिशा कितनी कोमल! प्रतीची की यह कचन गरिमा प्राची की उषाकालीन अरुणायित आभा से कितनी भिन्न है! पर यह दिवस का आरभ करती है, वह अन्त करती है। अच्छा वह मृग है, कृष्ण सार, यह मृगी! मृग के सीग होते है मृगी के नही। जैसे मयूर के पुच्छमण्डल होता है, मयूरी के नही। और यह छितवन की छाँव अब रम्य नही। इसकी पत्तियों से अब शीत टपकने लगी। सप्तपर्ण का आतपत्र दिन के आतप के लिए है, साँझ की शीत के लिए नही।

× × ×

दर्शन, काव्य छन्द, नाट्यशास्त्र, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, आन्वीक्षिकी, कलाएँ, कामसूत्र, अनन्त ज्ञान जिह्वाग्र पर।

नाकनक्श और तीखे हो गये है। मुखमण्डल अडाकार,

स्मित हास से सदा प्रफुल्ल। कनक बरन और तप गया है, काया पुरुषोचित हो गयी है, कामिनी के लिए असह्य। पिंगल कुन्तल और भी स्निग्ध श्यामायित हो कन्धों को चूम रहे हैं। होठ ताम्बूल से लाल रचे हैं।

वक्ष पर पुष्पमाला डोल रही है। वक्ष का कुछ भाग स्वर्ण-खचित अचलवाले पीत उत्तरीय से ढका है। चुनी धोती का कोण चरणो के बीच श्वेत लटक रहा है। कानो के कुण्डल मकराकृत हैं, पचशर के प्रतीक। नीलमखचित हिरण्य वलय कलाइयो पर गठे है, तप्त कचन के दमकते अगद भुजाओ पर कसे है, अनामिका मुद्रिकायुक्त है, नख रक्ताभ श्वेत हैं। तरुण कवि है वह।

छन्द गाता है, अपने ही रचे। तब जैसे उसकी कम्पित गिरा सुनने को वायु ठमक जाती है। मदिरा के अभ्यस्त सेवन से पलकें कुछ बोझिल हैं, नयनो के डोरे कुछ लाल रँग चले है। प्रेम रोम-रोम मे रिस चला है।

जब गाता है, सुनने को दिशाएँ सिमट आती हैं। युवा-युवतियों की भीड लग जाती है। विनीत है, पर कटकित हो उठता है, रोमाच उत्पन्न करता है। रहस्य का भार लिये मानिनियाँ रूठ चलती हैं, शिथिल। काम उन्हे डस चुका है। उसे भी।

ऋतुओ का रहस्य पा लिया है तरुण ने। निदाघ उसे जब डाहता है तब वह प्रासाद के चाँदनीछाये पृष्ठतल पर सुवासित वातावरण मे ताम्बूल और पुष्पमाला लिये प्रमदाओ के साथ मधुपान के अर्थ लालायित हो उठता है। पावस मे प्रोषितपतिकाओ का मेघदर्शन उनके लिए ही उसका मानस मथ देता है। शरद काम्य है, अनेकानेक कोमल उपकरणो से सेव्य, निरभ्र आकाश, निर्मल जल-प्रवाह, डहकती चाँदनी, चहकता चाँद।

हेमन्त और शिशिर कमलो को झुलस देते हैं, फिर भी काम्य हैं, मनहर। ताम्बूल हो, मधु हो, मदनमथिता सहजसेव्या कामिनी हो, प्रासाद का वक्षान्तर हो तो उसका तन्त्रीनाद नि.सन्देह

मुखर हो उठे, अन्तर चचल विलोचन लोल।

पर तारुण्य उसका वास्तव मे वसन्त में पकता है। जब कुसुम निचय से हरितावरा धरा लचक पड़ती है। जब रक्ताशोक अपने कुसुमो के अगार से वनस्थली मे आग लगा देता है। जब कमल सांझ को सम्पुट होता होता छिन भर मुंह खोल रखता है कि कही भटक रहा अनुनयी भौंरा अन्तर की राह पाले, कोठ का परचा कही बुरा न मान बैठे। जब पुस्कोकिल बौराये आम की मजरी के मधु से वृत्त हो कपायकण्ठ से टेर प्रिया को चूम लेता है—मदन का आदेश है वह टेर, मानिनियो के प्रति—मान तज दो, जीवन का यह क्षरण फिर लौटने का नही। भोगो इसे, वशी की गांठ-गांठ, रन्ध्र-रन्ध्र, तन्त्री के तार तार, वारुणी की बूंद बूंद!

और उदारमना वह कवि प्रिया का प्रसाघन करता है—चिवुक से कानो तक कपोलो पर खिची टहनियाँ मे लिखे पत्र रग-रग भूम पडते हैं, विशेषक रोम-रोम को परसकर जगा देता है, भाल की भक्ति के श्वेत बिन्दुओ के वृत्तायित केन्द्र मे कुकुम की अरुनाई किरन-सी चमक उठती है। चन्दन की श्वेत रेखाएँ वक्ष के गोलार्धो को कटकित करती नाभि मे उतर जाती हैं, जघनो को कोर देती हैं। सीमन्त की कुड्मल रेखाएँ धूप के धुंए से बसे अलकजाल के मोतियो पर विहँस पडती है। और आकर्ण फैले नेत्रो के श्याम उपान्त मधु के मद से बोझिल पलको के कारण सहज जब झुक पडते हैं तभी जान पाते हैं कि दर्पण मे प्रतिबिंबित लाक्षारजित लोध्रचर्चित अधर पदो की आलता रची रेखाओ पर हँस नही पायेंगे, कारण कि राजा उन्हें चूम चुका है।

कुछ हो गया उसे। यक्षो की नगरी मे उन्माद जागा। अनधिकारी उत्तरीय ने आतुर आँचल को समेट लिया। सयम का पाहरू सोया, असयम का दैत्य जागा। मृणालतन्तुओ से रोके मनोवेग सीमाओ को वहा ले चला। कचुक के कायबन्ध टूट गये।

स्वामी का अभिशाप फला—देश छूटा, नगरी छूटी काम-तरुओं के मधुभरे बिल्लौरी चषकों के दौर छूटे, मदिर अभिसार छूटे, प्रमदवन प्रासाद छूटे, स्वकीया प्रिया छूटी, परकीया वारिणी। कवि अभिशप्त, रामगिरिवासी यक्ष, झुलसी शिलाओं पर मेघ की छाया देख डोला, फिर बोला—

> सतप्ताना त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियाया :
> सदेश मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
> गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
> बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

सतप्तों के झुलसे हियों के, हे मेघ, तुम शरण हो—इसीसे माँगता हूँ। याचना ठुकराओ नहीं—कुबेर के क्रोध से प्रिया से बिछुड़े मुझ विरही का सदेश उस तक पहुँचाओ। जाना तुम्हें यक्षेश्वरों की नगरी उस अलका को होगा जिसके धवल प्रासाद निकटवर्ती उद्यान मे बसे शिव के सिर को चन्द्रिका से चमकते रहते हैं।

वाणी फूट बही, निर्बाध। 'मेघदूत' की अप्रतिम गीतिका अनायास रच गयी। मध्यप्रदेश की ऋतुओं का मल्हार कब का रूपायित हो चुका था। दक्षिण दिशा ने पुकारा, विदिशा की मालविका मच पर उतरी। उज्जयिनी की मालिनें कवि की आँखों चढ़ी, विशाला की अगनाओं का कुटिल भ्रूभग मर्म मे चुभ गया। महाकाल की समाधि टूटी—नमेरु की डाली से चक्राकृत धनु तान काम ने कपाय को वेध दिया, गजचर्म क्षत-विक्षत हो गया। तनुता खोकर भी अनग ने जो उन्माद बोया शिव ने उसे गन्धमादन पर मारे-मारे फिर पौध-पौध, पोर-पोर काटा। 'कुमार-सम्भव' हुआ।

आयु पक चली थी, केशावलि श्याम श्वेत। प्रौढ की मनेन्द्रिय डहक-डहक बलती है, अनस्फुट कलिका के प्रति विशेष स्फुरित होती है—जैसे अग्निमित्र की, मालविका के प्रति, शिव की, उमा के प्रति, पुरुरवा की, किशोरी उर्वशी के प्रति, दुष्यन्त की

शकुन्तला के प्रति।

यौवन पक कर निस्पन्द हो चला था। सयम का युक्ता हार विहार का, अकुर फूटा बढा अश्वत्थ हुआ। रघुवश का क्षमाशय परिवार का नियामक बना, आचारप्रमादिनी शकुन्तला अभिशप्त हुई धूसरित वसन धारे व्रतिनी शकुन्तला क्षमकारिणी अभिज्ञात हुई। कवि न जीवन का भेद पा लिया था—

मरण प्रकृति शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यत बुध —

काया का विनाश उसक परमाणुओ का आधार को लौट जाना है प्रकृत है स्वाभाविक। जावन विकार है, परमाणुओ का मूलाधार से हट जाना। पर कवि ने—जिसने अब कुडल और वलय तज दिये थे श्वेत कुन्तलो मात्र का वह धनी था—गाया फिर भी, केवल राग अब उसका भिन्न था—

प्रवतता प्रकृतिहिताय पार्थिव
सरस्वती श्रुतिमहता महीयताम।

●

२

उत्तरमेघ की अलका

●

उत्तरमेघ की अलका हिमालय के तुषारावृत शिखरों की छाया में बसी थी। उस मानसरोवर के पास ही जिसके निर्मल कैलासप्रतिबिंबित मीठे जल में हेमकमल खिलते हैं, जहाँ हंसों के जोड़े निस्पन्द बहते-से एक पद्मपत्र की छाया से निकल दूसरी का आश्रय करते हैं।

वहीं, उस मानस के तीर शिव का दिन-दिन का राशीभूत अट्टहास कैलास है। स्फटिकवत् स्वच्छ, जिसके दर्पण में देव-ललनाएँ अपना मुँह देख मंडन करती हैं। उस गिरिवर की सन्धियों को कभी रावण ने झकझोर कर ढीला कर दिया था। उसके श्वेत शिखरों के दल आकाश में दूर तक फैले हुए हैं, कुमुद की पंखुड़ियों की तरह।

उसी कैलास की ढलान पर अलका बसी है, प्रणयी की गोद में बैठी प्रणयिनी-सी। और उसकी ढलान से गंगा की श्वेत धारा जो उतरती दीखती है, लगता है जैसे विलासगत प्रिया की साड़ी नीचे सरकती चली गई हो। अलका के ऊँचे भवनों पर वर्षा ऋतु में जब रिमझिम बरसते धुआँ-से मेघ जा बैठते हैं तब वे ऐसे लगते हैं जैसे कामिनियों के मस्तक पर मोतियों के जाल

मे सवारी अलक—

> तस्योत्सगे प्रणयिन इव स्रस्तगगादुकूला
> न त्व दृष्ट्वा न पुनरलका ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
> या व काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
> मुक्ताजालग्रथितमलक कामिनीवाभ्रवृन्दम ॥

यक्षो की उस नगरी का चाहे आज कोई स्थूल अवशेष न हो पर कवि की कल्पना आज भी उसके हजार-हजार आकर्षण हमारे नयन पथ मे फेंकती चली जा रही है।

आसवपायी कुबेर की नगरी थी वह, उन यक्षो के स्वामी की जिनका वैभव उनके विलास मे था, उनकी सुरुचि मे उनके प्रणय-सभार मे। कुषाणो और गुप्तो की वेदिका-स्तम्भो की अभिराम यक्षिणियाँ वहाँ जीवित फिरती थी, अभिनव प्रणय के स्रोत खोले, नित्य उमँगती साधो के झझावात उठाती। धूमायित मघो के ऊपर उनके मणिमय भवनो के तुग शिखर गगन को चूमते थे और उन भवनो की दीवारो पर इन्द्रधनु की छाया मे पुष्पसायक राग-रेखाओ मे सोता था। उन दीवारो के चित्रगत गजराज हथिनियो के यूथो के साथ कमलो के वन से ढके सरोवर मे जिन मानवीय मनोरथो को सत्य करता था उनका गुमान स्वय मानव भी न कर पाता। अलका के उन्ही भवनो मे यक्षो की ललित वनिताएँ तन्त्री क छेडे रागो के बीच प्रहत्त पुष्कर के पसरते स्निग्ध गभीर नाद से तरगायित वातावरण मे विचरती थी।

उन पर लोध की रज डाल उन्हें पीताभ कर लेती, और कपोलो के चित्रलेख आनन की छवि को नितात कमनीय बना देते।

अलका के उसी पडोस में कही किन्नौर था, किन्नरो का देश, उन उत्सवसकेतो की परिधि के भीतर ही जिनके संकेतस्थल उनके कामोत्सवों से गूँजते रहते, जिनकी अनेकानेक विलास-प्रथाएँ आज भी वहाँ के पड़ोसियों के चरित्र को स्निग्ध और सरलभोग्य बनाए हुए है। वही अपनी अलका के स्फटिक भवनों को मणिमयी भूमि मे प्रतिबिंबित तारो की छाया में, उनकी पसरती ज्योति के प्रकाश में, यक्ष कल्पवृक्षो के कुसुमों से खिंचे आसव का सेवन करते। उनके आपानकों का मदिर वैभव मानवों ने भला कहाँ जाना!

उसी अलका में मदाकिनी की एक धारा बहती है जहाँ अमरप्रार्थिता कन्याएँ खेलती हैं। उन किशोरियो की छवि का जादू अमरो को उतना ही विवश कर देता है जितना उनके खेलो का आडंबरशून्य आकर्षण। भगवान् भास्कर का तेज मंदाकिनी की नीहारिकाओ से सिक्त वायु सह्य कर देती है और तट के मन्दार वृक्षो की छाया मे छनी धूप का विस्तार खेलती यक्ष-कन्याओं के अगों को स्पर्शसुखद लगता है। बहती धारा के दोनो ओर सोने की रेत फैली हुई है। उसी रेत में यक्ष-कन्याएँ अपने लुक्का-चोरी के खेल खेलती हैं—सुनहरी रेत के नीचे मणियों को जब वे चुरा देती है तब साथ खेलनेवाले अमरों और यक्ष-कुमारो को उन्हें ढूँढ निकालना कठिन हो जाता है। अलका की उस स्वर्णधूलि के वातावरण में बाल किशोर होता है, किशोर तरुण, और तब कमनीय काया की संधियों पर मदन अपनी गाँठें लगा देता है जिनको मणिमय प्रदीपो के प्रकाश में रसिक यक्ष खोलते हैं, लाज से सकुचाती स्वप्निल अर्द्धनिमीलित आँखोंवाली यक्षिणियाँ जिन्हें अपने हाथो से मडनचूर्ण फेंक बुझाने के असफल प्रयत्न से थककर विरत हो जाती है। तब यक्ष जागरूक हो उठते हैं और धर्मराज वरुण के चर अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं।

श्रौर जैसे विलास कक्ष के अतरग मे यक्ष श्रौर यक्षिणियो के प्रणयगत दांवपेच चलते है वैसे ही अलका के भवनो श्रौर मेघो के बीच भी लुक्का-छिपी चलती है। भवनो के वातायनो से चोर की तरह कमरो मे प्रवेश कर मघ दीवारो श्रौर फर्श के चित्रो को गीला कर देते है फिर निचुड कर डरे हुए से जार का श्राचरण करते सिकुडते हुए उन्ही वातायनो से भाग जाते है।

अलका के भवनो के उन कमरो के भीतर पर्यंको के ऊपर जो चँदोवा तना रहता है उसकी छटा को सम्राटो के श्रीवितान क्या जान? उनसे डोरियो के सहारे लटकती अनत चद्रकान्त मणियाँ जब गवाक्षो से पैठती चद्रकिरणो के स्पर्श से द्रवित हो रिसने लगती हैं तब यक्ष दम्पतियो की सुरत की ग्लानि मिट जाती है।

भवनो के भीतरी वैभव का अनत विस्तार लेखनी मे शक्ति कहाँ जो लिख सके? धनपति कुबेर के अनुचर यक्षो के अक्षय धन की प्रतीति स्वाभाविक ही है पर मन की भूख स्थूल की नि सीम परिधि से कब मिटी है? कब उसके दायरे मे बँध पायी है? मनोरथो की सीमा कहाँ है? अगति कहाँ है? सो अलका के भवनो की दीवारो मे जब मन की साधें न समा सकी तब कामुको ने उनका विस्तार भवनो के बाहर किया, उस अमर नगरी के बहिरुपवनो मे।

दाम्पत्य की एकाग्रता विलास का अभिशाप है। वह उसके विस्तार को बांधना चाहता है श्रौर विलास उसकी परिधि मे घुटा घुटा-सा पलता है। यक्षो की परिणीत प्रियाश्रो का सुख लज्जावेष्टित हाता है, विलास के कोमल आतुर क्षणो मे प्रकाश की ज्योति पर उसे अधा करने के लिए मण्डन के चूर्ण फेंकता है, विलास की प्रकट अजस्र विधियो को श्रौचित्य की निर्मम तहो से दब लेता है। पर वारागनाश्रो का श्राचरण दाम्पत्य की सीमाश्रो से बाहर विलास के अनत अनत पट खोलता जाता है, लाज की घुटन उसमे नही होती, छाया या श्रावरण उसे सीमित नही

करता, नेत्रों का पारस्परिक उन्मेलन विलास को उद्दीप्त करता है। अलका के यक्ष परिणामत दाम्पत्य से परिमित गार्हस्थ्य की दीवारों से, उसके भवनों से, निकलकर दूर बाहर चले जाते हैं, उन कल्पवृक्षों की ओर जिन्हें कुछ भी अदेय नही और जिनकी छाया में प्रणय का स्वादुफल अविराम चखा जा सकता है, जहाँ के प्रसूनो के मधु की कोई सीमित मर्यादा नही, अनंत मात्रा में जो ढाली जा सकती है।

उन उद्यानो की राह यक्षों को बडी प्यारी होती है और उस राह न केवल यक्ष जाते हैं बल्कि वे यक्षिणियाँ भी जाती हैं जिनको गार्हस्थ्य की सीमाएँ मान्य नही और जो भवनकेंद्रित अपने कुंठित विलास की गाँठें बाहर खोल उनको संचित पराग गंधवाही वायु के डैनो को सौंप देती हैं। नि संदेह काम के प्रमदवन की राहें अलका के यक्ष भी चलते हैं यक्षिणियाँ भी।

अभिसारिकाओ की नितात प्रिय ये रात की राहें निश्चय दिन मे उनसे शत्रुवत् व्यवहार करती हैं, उनके भेदियो का-सा। जब वे अपने सकेतस्थानों से मर्दित थकित अपने घरो की ओर तेज़ी से लौटती है तब वे नही जानती कि उनके ढीले कुतलो से कब फूल झडकर नीचे गिर पडे। कानो के सुनहरे कमल, टूटे हारो के बिखरे मोती पग-पग पर प्रात: उन देखनेवालो की आँखो मे चमक उठते हैं जो अपनी मर्यादाओ और सीमाओ को नही लाँघ पाते, केवल संकेत के अस्पष्ट उद्दीपन से ही अपनी स्वादु-कल्पना के पट बुनते हैं।

पडोस का भय बडा होता है। अलका के विलासों को गति देनेवाले मदन को भी एक भय है। वह भय है शिव। शिव धन-राज कुबेर के सखा हैं, पडोस के सहवासी भी। और मदन ने एक बार जो इन योगिराज पर अपना सम्मोहन नामक बाण छोडा था उसके परिणामस्वरूप रुद्र ने उसे जला डाला था और उसकी संज्ञा 'अनग' हुई थी। मदन अपना वह संहार भूला नही है, बरा-बर शिव से डरा रहता है। इसीसे अलका मे वह पुष्पधन्वा अधिकतर

स्वय अपने धनुप की प्रत्यचा नही चढाता । एक बार जो उसने भौरो की कतार से बनी अपनी वह डोरी खीची थी, धनुप को चक्रीकृत किया था, वह उसे फला नही था, सो उसकी सुधि वह कभी भूलता नही और फलत वह धनुप जब-तब ही चढाता है। वह कार्य उसने अलका की सुन्दरियो को सौंप दिया है, अपना वह धनुप उसने उनकी भौहो की छाया मे टिका दिया है और अपने कमान का जादू अलका की यक्षिणियो के भ्रू-विलास को दे वह सर्वथा निश्चित हो गया है। परिणामत वहाँ की चतुर वनिताओ के भ्रू-विलास द्वारा वह सब कुछ सम्पन्न हो जाता है जिसकी कामदेव अपने कमजोर धनुप और सद्य उड जानेवाले भौरो की डोरी से कर गुजरने की कल्पना भी नही कर सकता था।

उस अलका के दर्शनीय तरुओ मे एक तरु है कल्पतरु जो नारियो के मडन सम्बन्धी सारे प्रयासो को व्यर्थ कर देता है, जिसकी निकटता और अनल्प देयता के कारण उन मडनो के लिए प्रयास की अलका की नारियो को आवश्यकता ही नही रह जाती। मडन के उपकरण चार होते हैं—सुन्दर वसन, मदिर मधु, परागवर्षी प्रसून और रागरजक आलक्तक । नरम स्पर्श-सुखद चित्रित-रजित वस्त्रो की परस जितना पहननेवाले के लिए काम्य है उतना ही देखनेवालो के लिए उनका दर्शन आकर्षक और अभिराम होता है। विलास की आधार नारी है और नारी के नारीत्व का आकर्पण उसकी भ्रूलताओ मे केन्द्रित है और भ्रूलताओ को सिंचन करनेवाला रस उन्हें मधु से मिलता है, आसव मे, जिसके आसेवन से नेत्रो के कोये सज जाते हैं, उनके डोरे लाल हो जाते हैं, उनकी पलकें शिथिल अर्धवोभिल और भव कमानवत् चढकर तन जाती हैं। मडन का आवश्यक उपकरण कुसुम है। नारी उसे कानो मे धारण करती है, वेणियो मे, चूडापाश मे, अलकजाल मे पहनती है और ललारविन्द की विजय-वैजयन्ती वह कर मे फहराती है। पर मडन के ये तीनो उपकरण दर्शन मे फीके लगते हैं यदि विलासिनी के खुले अगो का प्रसाधन

आलक्तक की रक्तिम रेखाओं ने न किया। आलते की राग-रेखाएं अब कपोलों की श्वेत भूमि पर 'विशेषक' के और भाल पर 'भक्ति' के रूप में उभर आती हैं। जब उनसे हाथ की हथेलियां और पग के तलवे रँगकर चमक उठते हैं और उनके किनारे सौन्दर्य को जैसे परिधि मे बांध गतिमान करने लगते हैं तब मंडन की छवि में चार चांद लगते हैं। और इन सारे उपकरणों का एकमात्र प्रसवक वह कल्पतरु है जिसका नि सदेह अलका के यक्षों का, उनकी यक्षिणियों का, बड़ा मोह है, बड़ा गर्व है।

उसी कल्पतरु के पड़ोस मे धनपति कुबेर के महलों के पास ही कहीं मेघदूत के विरही यक्ष का प्रासाद था, उसकी एक पत्नी यक्षिणी का अभिराम आवास, जिससे बिछुड़कर अभिशप्त यक्ष मध्यप्रदेश के महाकान्तार के पार रामटेक की उपत्यका में रहने लगा था।

३

विरहिणी का आवास

कैलास की उतरती ढाल पर विराजमान अलका है जिसकी गगारूपिणी श्वेत साडी नीचे सरकती चली आई है। उसी अलका मे उसका प्रभु और यक्षो का स्वामी धनपति कुबेर का राजप्रासाद है और उस प्रासाद से थोडी ही दूर पर उत्तर की ओर अभिशप्त यक्ष का भवन है।

फैले प्रमदवन के बीच विरही यक्ष का वह आवास खडा है जो अपने इन्द्रधनुष के सदृश बने, तोरण से, दूर से ही पहचाना जा सकता है, जिस तोरण के दोनों ओर शख और पद्म चित्रित है। प्रासाद के द्वार पर ही वह कल्पतरु सरीखा बालमन्दार का वृक्ष है जिसे यक्ष की कान्ता ने पौधकाल से ही पुत्रवत् मान वक्षवर्ती घट से सींच-सींच बडा किया था। वह मन्दार अब बालमन्दार भी न रहा, बढकर कुसुमाकर बन गया है, उसकी शाखाओ से फूल के गुच्छे झूम पडे है और उसके स्तवक डाली झुकाकर हाथ से तोडे जा सकते है, हाथ की पहुँच के भीतर है—

तत्रागार धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीय
दूराल्लक्ष्य सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

प्रासाद के उस प्रमदवन मे बावली है, क्रीडाशैल है, केलो के वृक्ष है, अशोक के अभिनव तरु हैं। प्रासादवर्ती वह वापी (बावडी) निर्मल जल से भरी है, उसकी सीढियाँ जल तक निरतर उतरती चली गई है। और उस सोपान मार्ग की सुघराई के क्या कहने—यक्ष की सुरुचि जैसे उनकी वास्तु मे उमड पडी है—मरकत की पट्टिकाएँ उनमे जडी हैं और नीलम की वह राह जब पन्ने की ज्योतिवाले कमलनालो से जा मिलती है तब स्वर्ण-कमलो की पीताभ छाया के सयोग से वहाँ रगो का अद्भुत सगम बन जाता है। ऐसी अलौकिक वापी मे नि सन्देह कमल भी साधारण नही खिलते, स्वर्ण-कमल होते हैं वे, जो अपनी वैदूर्य की नाल पर डोलते रहते हैं और उसके जल पर जो राज-हस विचरते हैं उनका स्नेह उस वापी से इतना घना है, उसके स्वर्ण-कमलो से, उनकी वैदूर्य की नालो से, उन पर अपनी जगमग आभा डालती सीढियो के नीलम की छटा से, कि वे बस वही रम रहते हैं और वर्षागम मे भी, जब सर्वत्र के हस अपना जलावास छोड मानसरोवर की ओर उड चलते हैं तब भी, वे राजहस वही बन रहते हैं, उसी वापी के जल-विस्तार पर, उसकी नन्ही लहरियो से टकराते, चहकते, कमल-पत्रो की छाया म बसेरा लेते।

और उस वापी क तीर इन्द्रनील मणियो के शिखरवाला एक क्रीडाशैल है, प्रकृत शैलो से सर्वथा भिन्न, रसिक वास्तुविद् मानस के हाथ का बना, फुरसत के दिनो म प्रणयी-युगल द्वारा जहाँ-तहाँ सँवारा। हिमालय की अनन्त शिलाराशि मे शृङ्खलाओ के अटूट सिलसिले हैं, उनके अनन्त अभिराम वनावृत खड हैं। पर इस हाथ से बनाए कृत्रिम क्रीडाशैल की छटा निराली है, पाले मृगो की चौकडियो से उसका पत्थर-पत्थर पुलकित है, उनकी नाभि से शिला-शिला सुरभित। और उस क्रीडाशैल की वेष्टनी कनक-कदली से खिची हुई है, देखने ही योग्य है। वापी के तीर नीलमजडे क्रीडाशैल का वह अभिराम विस्तार और उसके चारो

ग्रोर दौडती सुनहरे केलो की वाड निश्चय मनहर है मनहर कि दूर का यक्ष उस क्रीडाशैल की स्वामिनी अपनी गेहिनी की सुधि तक अनायास कर बैठता है जिसके हाथो कनक-कदली की वह वाड अकुरित होकर वढी थी। क्यो न ग्राए नीलाभ श्याम शिखर-मडित क्रीडाशैलवर्ती उस गेहिनी की याद जब वैसा ही नीलाभ मेघ अपनी दामिनी के साथ रामगिरि म गगन पर घिर ग्राए ? ग्रौर तब स्फुरित चपलावाले श्यामघन को देख कातरचित्त यक्ष की वाणी क्या न फूट पडे ? क्यो न वह कामार्त यक्ष चेतन-अचेतन के भेद-भाव भुला प्रकृतिकृपण वन उसे प्रिया के प्रति अभिमत सदेश भेजने क उपक्रम करने लगे ? उस क्रीडाशैल पर कुरवक वृक्षा से घिरा माधवीमडप है ग्रौर उस माधवीमडप के महमह लतागृह क पास ही लाल अशोक ग्रौर वकुल क तरु हैं। रक्ताशोक ग्रौर वकुल दोनो दिव्य वृक्ष हैं, अपनी ही अलौकिक छटा से मडित। पर उन्ह भी यक्ष की गेहिनी की कृपा की अपेक्षा सदा रहती ग्राई है। उनका दोहद उसीन समय ग्रनि पर सम्पन्न किया है। ऋणी उपकृत अशोक उसक वामपद के स्पर्श का अनुरागी है उत्कठित कृतज्ञ वकुल उसके ग्राननार्पित मद्य के कुल्ले का ग्रभिलाषी उसके बाएँ पैर का परस जब मिले तब कही वह अशाक ग्राशीष फूलो म लदे, उसकी वदन मदिरा का स्वाद जब वकुल पाए तब कही वह अपन कुसुमो क कुडमल फेंके।

उन्ही दोनो तरुग्रा के बीच वामपादाभिलाषी अशाक ग्रौर वदनमदिरोत्सुक वकुल क बाच एक बासयष्टि है। काचनी है वह सोने की बनी जिसक मूल म हरी मणियाँ जडी हैं, बाँस की कोपल के समान हरिताभ, पत्तो स सजी। ग्रौर ऊपर उसके स्फटिक की चौकी है, चमकती चिक्नी। ग्रौर दिन डूबत जब साँझ होती है तब मघ क रग का श्यामायित पालतू मयूर उस स्फटिक के फलक पर जा बैठता है। तब कडा क घुँघरुग्रो से भकृत करा स ताल द दे वह गेहिनी उस मयूर का नचाती है,

और वह क्रीडाशैल के इन्द्रनील शिखर मे मेघ की छाया पा *उल्लसित हो अपने पखों का मंडल खोल नाच उठता है—*

> तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
> मूंले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवशप्रकाशं ।
> तालै शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
> या मेध्यास्ते दिवसविगमे नीलकठ सुहृद्व. ॥

ऐसा वह यक्ष का भवन है, इन्द्रधनुष के-से तोरण-द्वार वाला, जिस द्वार के दोनो ओर शख और पद्म की आकृतियाँ चित्रित हैं, जिसके विस्तृत प्रमदवन मे कनक-कदली की बाडो से घिरा क्रीडाशैल है, अतिमुक्त के वासन्ती लतागृह हैं, रक्ताशोक और वकुल है, हस्तनम्य स्तवकधारी मदार है, मरकत मणि जडी *सोपान-मार्ग की सीढियाँ है, वापी के नीलजल में फूलनेवाले* वैदूर्य दण्डधारी डोलते कनक कमल हैं, और जिसके प्रमदवन की स्फटिकफलका वासयष्टि पर रसिका गेहिनी के ताल पर नाचने वाला नीलकण्ठ मयूर है।

पर यक्ष की स्मृति के निरन्तर खुलते जाते रम्य पटलो का वह गृह आज सर्वथा सूना है, उसके अभाव से सूना, जैसे सूर्य के *अभाव से कमलवन का वातावरण सूना हो जाता है।* गेहिनी है उसमे, वही गेहिनी जिसने कभी ऋतुओ के वैभव को उनके आगम मे अपने प्रमदवन मे उतारा था। पर आज वह स्वय निस्पन्द है, विरह-विधुरा, प्रसाधनहीन सूनी आँखोवाली, सूनी दृष्टिवाली, नितात दुर्बल, आशा की मात्र आलोक-रेखा से जीवित।

●

४

विरहिणी यक्षी

●

मानस के तीर स्फटिकराशि कैलास के उतार पर बसी अलका के सौधो के बीच यक्षराज कुबेर के राजभवन के पास ही ऋतुओ की ऋद्धियों से भरपूर जो प्रमदवन है उसके बीच खडा इन्द्रधनु-तोरण और शख-पद्म के चित्रो से पहचाना जानेवाला प्रवासित यक्ष का रुचिकर भवन है। उसी भवन मे, उसके सजे वैभव के प्राणहीन सूनेपन के बीच पोषितपतिका विरहिणी यक्षिणी जैसे-तैसे प्रियपति के अभाव मे अपने विरह के कठिन दिन और लम्बी रातें काट रही है।

कभी उस भवन मे वाद्यो के योग से राग-रागनियाँ प्रतिध्वनित होती थी, आज जैसे उसके विलास-कक्षों पर अशौच छाया हुआ है, जैसे कभी का वह भरा भवन आज निर्जन हो गया है, निर्वास। उसी भवन मे विलास की काम्य अठखेलियो से वचित यक्षागना विरहव्रत के निर्मम आघातो से अपना मृणालकोमल-गात गलाये जा रही है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

'कनक छरी'-सी उसकी कमनीय काया, तपे कचन की आभा से द्युतिमती उसकी अभिराम त्वचा की तरुणाई, कोटिमत उसके दाँतो की पत्तियाँ, पके कदम्ब जैसे उसके भरे लाल होठ, नितात क्षीण कटि, मृगी-सी भीता, गहरी नाभिवाली, नितम्ब के भार से आहिस्ता चलनेवाली और स्तनो के भार से तनिक आगे को भुकी हुई—यह तो जैसे ब्रह्मा ने तारुण्य और नारी सौंदर्य के ऋद्ध आकर से उपकरण चुन लिए हैं और उनके योग से उसकी काया सिरज दी है।

यक्षिणी की यह रूपरेखा उसके दूर बैठे यक्ष ने खीची थी, महीनो पहले, जब और आज के बीच नि सन्देह बडा फर्क पड गया है—

अब तो उस यक्ष के दूसरे प्राणरूपिणी सगिनी की दशा दयनीय हो गई है, उस चकवी की तरह जो सहचर के दूर हो जाने से दयनीय हो जाती है, बोलती नही, प्राय चुप रहती है। विरह के बडी कठिनाई और उत्कठा से कटनेवाले लम्बे दिन जैसे तैसे काटती हुई अब वह सर्वथा बदल गयी है। लगता है जैसे वह अब यक्ष-वाला नही रह गयी, पाले की मारी, शिशिरमथिता पद्मिनी हो गई है—

> ता जानीया परिमितकथां जीवित मे द्वितीय
> दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
> गाढोत्कठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
> *जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥*

अहर्निश रोते रहने से नेत्र सूज गए हैं, निरतर तत्ती साँस लेते रहने से होठो की प्रकृत ललाई उड गई है, हाथ पर जा वदन बरावर चिन्ताकुल टिका रहता है, लम्बे रूखे बालो से ढका हुआ-सा, तो लगता है जैसे चन्द्रमा के निष्कलक बिंब को बादलो ने जहाँ-तहाँ ढक रखा हो। चेहरा उदास खोया-खोया-सा—

> नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्र प्रियाया
> नि श्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।

हस्तन्यस्त मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्य त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

जानती नहीं बेचारी कि करे क्या वह, किस तरह अपने मन को घर के सूने में लगाए, किस तरह अपने भीतर के सूने को भरे। सो वह कभी एक कभी दूसरा कभी तीसरा धधा करती रहती है। किसी मे उसका मन नहीं लगता, कोई साधन उसके सूनेपन को भर नहीं पाता। कभी तो वह दौडकर पति के सकुशल लौटने के लिए देवताओं की पूजा करने लगती है, कभी उसका चित्र बनाने लगती है, उसके दुर्बल तन का, जो कल्पना में पहले से और स्वाभाविक ही विरह की ताप से निश्चय दुर्बल होगा। और चित्र बनाती-बनाती एकाएक मीठे बैन बोलनेवाली पिंजडे की सारिका के पास दौड जाती है उससे पूछने लगती है—क्यो रे रसिके कभी स्वामी की याद भी करती है, भला तू भी तो उसे इतनी प्रिय है ?

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिकां पञ्जरस्था
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति॥

फिर वह यक्ष के विरचित पदो को, उसके कुल की कीर्ति के गीतो को, गाने के उपक्रम करने लगती है। मलिन वसन पहने भूमि पर बैठ जाती है वीणा गोद म डाल लेती है, बडी साधो मे अलाप लेने की कामना करती है, बात कुछ का कुछ हो जाती है गाना उसके बस का नहीं रह जाता—तन्त्री के तार आँखो से निरन्तर टपकते जाते आँसुओ से गीले हो जाते हैं, उन्हे जब वह जैसे-तैसे पोछकर सुखा लेती है तब रोज-रोज का किया रियाज ही सहसा भूल जाता है। नित्य उसने उस मूर्च्छना को अपने-आप बार-बार लिया है पर आज जब वह मूर्च्छना ही भूल जाती है तब स्वरो का भला आरोहावरोह क्योंकर हो!

उत्सगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

फिर शाप के बचे हुए दिनो की गणना वह देहली पर दिन-दिन डाले फूलो को गिन-गिन करने लगती है । और जब इन व्यापारो से भी मन की आकुलता नही मिटती, चित्त का विनोद किसी प्रकार नही होता, तब प्रिय के साथ किए पहले आमादो अथवा हिये मे अनायास अभिलषित काल्पनिक विलास का स्वाद लेने के लिए सहसा चुप हो जाती है । दिवास्वप्न रमण के अभाव मे निश्चय विरहिणियो का सूना भरने मे सहायक होता है ।

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वगनाना विनोदा ।

यह तो विरहिणी का दिन का व्यापार है, रात तो और भी निर्मम हो उठती है । नीरव निशीथ नितात लबा हो जाता है, काटे नही कटता । साध्वी पर्यंक का आश्रय तो पति के अभाव मे कब का छोड चुकी है, भूमि पर पडी विगत सौभाग्य के दिनो के सपने निद्राविरहित नेत्रो से देखा करती है । काश कि भवन के वातायन मे मेघ का कोई टूक आ बैठता और उचरते कागा की तरह पिया का सँदेसा सुना देता ।

एक दिन था जब प्रिय के सहवास मे चार पहर की रात क्षणभर मे बीत जाया करती, एक दिन है कि रमण के अभाव म वही रात काटे नही कटती, सालो लबी हो जाती है । और तृण आदि की विरहशय्या पर एक करवट पडी वियोग मे काया क्षीण हो जाने से चन्द्रमा की बची हुई कला मात्र-सी लगती मनोव्यथा से भरी रातें काटती जा रही है—

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

कितना कठिन है उसका जीवन—

ऐय्याम मुसीबत के तो काटे नहीं कटते,
दिन ऐश के घड़ियों मे गुज़र जाते हैं !

खिड़की की जाली से जब चन्द्रमा की किरणें छन-छनकर भीतर आती हैं तब उन्हें अपने विरहाग्नि से जलते शरीर को शीतल करने के लिये पकड़ने को बढ़ती है, यह जानकर कि ये किरणें वही बीती सुख की रातोंवाली है जिनकी परस अपने *हजार हाथों से सुरत की ग्लानि हर लिया करती थी।* पर जब सुधाकर की वही किरणें आग की जलती बर्छियों-सी लगती हैं तब अपनी आँखो को विरहिणी आँसुओ से बोझिल पलकों से ढक लेती है और तब उसकी लम्बी पलकों से आधी खुली आधी बन्द आँखें ऐसी लगती हैं जैसे बादलों की छाया मे पड़ी स्थल-कमलिनी हो न जागती, न सोती—

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥

तेल, स्नानादि के अभाव मे रुखी हुई रूखी अलकें जो गालों पर लटक आती हैं होठों को दुखदायिनी सिद्ध होती हैं। उन्हें वह अपने मुँह की गरम हवा से फूँककर दूर हटा देती है। मनाती है कि आँख लग जाय और स्वप्न मे ही चाहे प्रिय से साक्षात् हो जाय, सम्भोग हो जाय पर आँसू हैं जो थमते नही और जो आँसू न थमे तो भला आँखें लगें कैसे, सपने आएँ कैसे ? पति से समागम कैसे हो ? सो कामना व्यर्थ हो जाती है, उन्निद्र आड़े आ जाता है।

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्सम्भोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

प्रिय से विरह के पहले दिन ही विरहिणी ने जूड़े की फूल-माला निकाल फेंकी थी वह फूलमाला जिसे शोक से मुक्त हुए यक्ष को ही विरहान्त में फिर से उस जूड़े में बाँधना है। और बालों को यक्षिणी ने अब एकत्र कर उनकी एक ही लट बना ली है। वही स्नेहहीन रूखी लट, जिसे छूने में भी क्लेश होता है, जब बार-बार गालों पर गिर जाती है, बार-बार तब वह उसे अपने बढ़े हुए नखोंवाली उँगलियों से हटाती रहती है—

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥

आभूषणों को सर्वथा त्याग अत्यन्त दुर्बल मृदुल शरीर को बड़े दुःख से शय्या पर डाल पाती है। मेघों को देख उस मृगाक्षी का वाम नयन फड़क उठता है, नयन जो स्निग्ध अंजन के अभाव में सूना लगता है और रूखी अलका से ढके होने से उसका अपांग चल भी नहीं पाता, फिर वारुणी का सेवन दीर्घकाल से न करने के कारण उसे अपना भ्रू विलास भी विस्मृत हो गया है। हाँ, मेघों को देखने के लिए जब वह नयन अलकों के जाल से ढके-ढके फड़कने लगता है तब, लगता है, मछलियों के द्रुत वेग से चलने से जैसे कमल सहसा हिल उठा हो—

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥

ऐसी विरहिणी प्रिया की रक्षा के लिये दूरवासी प्रणयी

फिर क्या करे ? किस प्रकार वह दिन-दिन क्षीण होती जाती काया की लौ को जगाये रखे, मात्र विरहात संयोग की आशा से ? दिवसगणना में तत्पर विरह के दिन दारुण दुःख से काटती नारी की रक्षा मात्र आशा की किरण से ही हो सकती है। वियोग में जलता हिया उसका निःसदेह सूखकर काँटा हो जाय यदि आशा अपने आर्द्र सिंचन से उसे हरा न कर ले क्योंकि नारी का हृदय तो उस कुसुम की भाँति है जो कुम्हलाकर गिर जाता है, पर जैसे गिरते हुए कुसुम को वृक्ष से लगा जाला अपने वृन्त में रोक लेता है वैसे ही आशारूप वृन्त भी नारी के पतितोन्मुख हृदय को रोककर नाश से बचा लेता है—

> आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां
> सद्यःपाति प्रणयि हृदय विप्रयोगे रुणद्धि ॥

०

५

विरही का सदेश

●

विरहिणी यक्षी का जीवन आशा के कमजोर धागे स बँधा था और प्रिय यक्ष और उसके बीच न केवल शाप का अन्तर था बल्कि लम्बी दूरी का भी था, और दूरी एसी जो पैरो से तय न हो सके जो महज लाघी जा सके। जो कोई ऐसा हो कि पवतो की चोटियो पर पग धरता नदियो और नगरो को लाघता चल तब तो वह राह तय हो वरना कहा मध्यप्रदश के अन्तराल म रामगिरि और कहाँ कैलास की शिखरवर्ती अलका।

विरहिणी की दशा तो नि सदह दयनीय थी ही विरही यक्ष की दशा भी कुछ कम दयनीय न थी। पर हिया कुछ ऐसा कडा होता है पत्थर से भी कडा कि चाहे पहाड की छाती दरक जाय पर वह फट-फटकर भी नही फटता। मदिरमानस विरही भी अपनी कल्पनाग्रो के बोझ से दबा जब अपने हिये म झाँकता तब उसे वहाँ आशा की क्षीण बाती की टिमटिमाती लो दिख जाती और उसे उस बुझती लो से, उसके आलोक मे, बिसूरती यादें जग उठती।

उन्ही यादो के भरोसे वह जीता प्रवास के लम्बे दिन काटता, लम्बी रातें काटता, और अलका की अपनी वाटिका के कुज-कुज

मे रमता विरहिणी प्रिया की एक एक क्रिया का अनुमान कर लेता। पर वह अनुमान स्वय निर्दय हो उठता और अजाने उसकी चोटें गरीब विरही पर निरतर टूटने लगती। सो अपने प्रवास की गिरि गुहा म उस कामी ने कुछ मास तो किसी तरह काट लिए, गात गल चला, कलाई का कडा कुहनी पार कर चला, पर जब आरभ आषाढ म उसने अपने आवास के गिरिशिखर पर नए मेघ को गजराज की भाँति वप्रक्रीडा मे व्यस्त देखा तब जैसे उसके आवेगो का बाँध टूट गया—

> तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्त स कामी
> नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रशरिक्तप्रकोष्ठ ।
> आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानु
> वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श ॥

विरही को लगा कि बीच की दूरी का प्रश्न अब हल हो गया क्योकि उसके सामने वप्रक्रीडा मे लीन जो अभिनव जलद है वह गिरिशिखरो पर अपने पग धरता, महाकान्तार और नदियाँ लाँघता, नगर लाँघता, कैलासवर्ती अलका तक जा सकता है। फिर तो अपने उमडते आँसुओ को जैसे-तैसे रोक धनपति कुबेर का वह दुर्बलकाय अनुचर किसी तरह उस जलद के सामने जा खडा हुआ। जब मेघ के दर्शन से प्रणयिनियो के कण्ठ से लगे प्रणयियो का मन और तरह का, जाने कैसा, हो जाता है तब भला उस गरीब के क्या कहने जिसे दुर्दैव ने प्रिया से दूर फेंक दिया था!

तब अपने मन में प्रिया को उसी प्रियाप्राणरक्षक मेघ द्वारा अपना कुशल सदश भेजने का निश्चय कर अजली कुटज के टटके फूलो से भर मीठे वचन कठ मे ला वह स्वागत के लिये खडा हुआ। कहाँ तो धुआँ, आग, जल और वायु का सघात अचेतन मेघ और कहाँ सचेत शब्दकुशल प्रणय सदशवहन मे प्रवीण दूत का कार्य! पर जो कामार्त होते हैं उनमे चेतन और अचेतन का विवेक ही कहाँ रह जाता है? सो अपनी उतावली मे उस विरही यक्ष ने

उसी मेघ से अपने काज की प्रार्थना की—

> जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
> जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
> तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
> याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

लोकविख्यात पुष्कर और आवर्तक जलद कुल मे तुम्हारा जन्म हुआ है जानता हूँ, तुम इन्द्र के इच्छाचारी प्रधान पुरुष हो। इसीसे दैव के कोप से अपने बधु बान्धवो से बिछुड़कर तुम्हारे शरण आया हूँ उबारो मुझे—और तुम भी जानो कि श्रेष्ठ के प्रति याचना विफल होकर भी स्तुत्य है अधम के प्रति सफल होकर भी निन्द्य। सतप्तो क तुम शरण हो पयोद, इसस मुझ धनपति क क्रोध से प्रिया से वियुक्त का सदेश मेरी उस प्रिया तक पहुँचा दो। तुम्हे यक्षेश्वर की प्रसिद्ध नगरी अलका जाना होगा जिसके बाहरी उद्यान म रहनेवाले शिव के चूडा चन्द्र की चाँदनी उसके उन्नत भवनों को अपनी अजस्र श्वेत धार से धोती रहती है।

और विरही उस गतव्य अलका की राह अपने सुहृद् मेघ को समझाने लगा। नगर-जनपदो का वैभव उस राह के अकन मे भर, उपत्यकाओ वनस्थलियो का सौरभ लुटाता, जागल प्रदेशो और पर्वती अचलो का विहँगावलोकन करता यक्ष अपनी मदिर वाणी मुखरित करने लगा। विरहिणी प्रिया के दयनीय जीवन का वर्णन करता हुआ वह बोला—देखो, मित्र, मलिनवसना मृतप्राया जो वह मेरी सखी तृण-पल्लवो की शय्या पर निष्प्राण-सी पडी हो और उसकी अधखुली आँखें तुम पर गवाक्ष मे जब आकर टिकें तब हल्की वायु को अपने सीकरो से शीतल कर उसके स्पर्श से, धीरे-धीरे बोलकर, उस मानिनी को जगाने का प्रयत्न करना। कहना उससे—देखो, सुहागिन, मुझ जलद को, तुम्हारे भर्ता का प्रिय मित्र हूँ मैं, उसका सदेश अपने हिये मे सँजो-कर तुम्हारे निकट आया हूँ। जानती हो तुम नि सदेह मेघ हूँ मैं जो विरहिणी अबलाओ की एकवेणी खोलने की उत्कठा से

प्रियाओ के प्रति तेजी से लौटनेवाले प्रवासियो की थकान मार्ग मे अपनी धीर मधुर स्नेहसिक्त वाणी से मेटता हूँ ।

और तब जब तुम्हारे इतना कहने पर वह उत्कठित आर्द्र-हृदया प्रिया पवनतनय के प्रति जानकी की भाँति तुम्हारी ओर देख आश्वस्त हो जाय तब तुम मेरा सदेश उससे कहना । क्योकि जानो कि नारियो को मित्र द्वारा प्रिय का सदेश पाकर पति के सगम के प्राय बराबर ही सुख होता है । सो तुम अपनी उपकार-वृत्ति से मेरे वचनो द्वारा उससे कहना कि तुम्हारा सहचर रामगिरि के आश्रम मे प्रवास के दिन काट रहा है, विपन्न है पर अभी जीवित है, और तुम्हारे वियोग से कातर हो तुम्हारी कुशल पूछ रहा है । दुर्दैव के मारे प्राणियो को हजार सकट आए दिन घेरे रहते है, इससे पहले उनसे कुशल पूछनी ही समीचीन है । और चूँकि वैरी विधाता ने उसकी राह रोक रक्खी है वह केवल सकल्पो से, मनोरथो मात्र द्वारा तुमसे तादात्म्य करता है, तुम्हे भेंटता है—तुम्हारे क्षीण अग को अपने क्षीणतर अग से, तुम्हारे सताप को और गाढे सताप से, तुम्हारे आँसुओ को वेगतर आँसुओ से, तुम्हारी निरतर की वेदना को अधिकतर घनी वेदना से, तुम्हारे उष्ण उच्छ्वासो को उष्णतर उच्छ्वासो से । इन्ही सकल्पित विविध विधियो से तुम्हारा वह दूरवर्ती सहचर अपनी विवशता मे दूर से ही तुम्हारी विविध दशाओ मे प्रवेश पाने के उपक्रम कर रहा है—

अगेनांग प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्त
साश्रे णाश्रु द्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वास समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
सकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्ग ॥

एक दिन था जब तुम्हारे आनन के स्पर्श का लोभी तुम्हारा प्रियतम सखियो के सामने नही कहने लायक बात को भी रहस्यमय बना कान मे कहता था, वही आज कान-आँख की परिधि से बाहर हो गया है और उत्कठा का मारा जैसे-तैसे कुछ शब्द

जोड मेरे मुँह से सदेशा कहला रहा है, सो सुनो—

> श्यामास्वग चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छाया शशिनि शिखिना बर्हभारेषु केशान् ।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
> न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चंडि सादृश्यमस्ति ॥

निश्चय श्यामालता मे तुम्हारे तन की भगिमा पाता हूँ, सभीता मृगी की आँखो मे तुम्हारी बाँकी चितवन भी, चद्रमा के बिंब मे तुम्हारे मुखमडल का आभास मिल जाता है, जैसे मोर के मडल मे तुम्हारा केश-कलाप, उसी प्रकार क्षीण नदियो की बाँकी लहरियो मे तुम्हारी चचल भौहो के तेवर भी देख लेता हूँ, पर हाय, मानिनि, एकत्र कही तुम्हारी समूची सुघराई नही देख पाता !

और अभाग तो देखो, रानी, गेरु से शिला के ऊपर तुम्हारा प्रणयकुपित चित्र बनाता हूँ, फिर मानभजन के निमित्त तुम्हारे चरणो मे पडी अपनी आकृति खीचना चाहता हूँ । पर ऐसा कर नही पाता । घातक यम चित्र तक मे हमारा सयोग नही देख पाता—मेरी आँखें आँसुओ से बार-बार भरकर उन्हे अधा कर देता है, दृष्टिपथ बद हो जाता है और मैं चित्र पूरा नही कर पाता—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगमं नौ कृतान्तः ॥

और देखो, सपने मे जब कभी भाग्यवश तुम मुझे मिल जाती हो और तुम्हारे निर्मम आलिगन के लिए मैं अपनी बाँहे शून्य मे फैला देता हूँ तब मेरी कातर दशा देख हास्यास्पद बाहुचेष्टा से द्रवित वनदेवियाँ रो पडती हैं और उनके बडे-बडे मोतियो से आँसू तरु-पल्लवो पर बिखर पडते हैं ।

गुणवति, देवदारुओ के पल्लवपुटो को हिमालयवर्तिनी वायु सहसा तोड देती है । उनका दूध ऊपर छलछला आता है । और

वही वायु जो उस दूध की सुरभि लिए दक्षिण की ओर वह चलती है तो बडी उत्कठा से दौडकर उसका आलिगन करता हूँ, कदाचित् वह तुम्हारे अगागो को परसकर आई हो ।

चपलनयने, रात मे सोचता हूँ, रात के ये लम्बे पहर कैसे क्षणभर मे काट लूँ, दिन मे सोचता हूँ, निरन्तर उठती रहने वाली हूकें कैसे झेलकर खत्म कर दूँ, हिये की जलन को कैसे सहसा मन्द कर दूँ। पर मेरी ये साधें व्यर्थ हो जाती है। तुम्हारी विरहव्यथा ने यह घना संताप देकर मुझे निरवलब छोड दिया है ।

देखो, कल्याणि, भविष्य की अनेक साधो की कल्पना कर मैं अपने को सम्हाल रहा हूँ, तुम भी अपने को वैसे ही सम्हालो, अधीर कातर न हो। और जानो कि कोई ऐसा नही जिसे केवल सुख ही मिलता हो, न कोई ऐसा ही है जो एकान्तिक दुख का शिकार हो। अरे, सुख-दुख तो रथ के पहिये की तरह है, कभी सुख ऊपर होता है दुख नीचे, कभी दुख ऊपर होता है सुख नीचे ।

आखिर हरि के शेष-शय्या छोडते ही हमारे शाप का अन्त होगा। तब तक के चार मास आँख मूँदकर काट लो। फिर तो कातिक की चाँदनी रातें और हमारी गुनी हुई साधें ! जो-जो इस विरह के बीच हमने गुना है वह सारा उन उजाली रातो मे हम कर गुजरेंगे ।

अबले, तुम्हारे प्रिय ने गोपनीय भी कुछ कहा है—जब तुम एक बार मेरे गाढालिगन मे कसी सो रही थी तब सहसा रोती हुई जग उठी थी और मेरे बार-बार कारण पूछने पर मुस्कराकर तुमने कहा था, छलिये, सपने मे तुम्हे मैंने किसी और के साथ रमते देखा—

> भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
> निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
> सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
> दृष्ट स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥

मेरी इस कथा से मुझे पहचानो, रानी, मुझे सकुशल जानो। लोकापवाद पर कहीं विश्वास न कर बैठना, मेरे प्रति, मेरे जीवन के प्रति, अपनी आस्था न डिगा देना। और न कहीं यही मान बैठना कि वियोग मे स्नेह घट जाता है। ना, सभोग के अभाव म वह उलटे बढ जाता है, सचित रस राशि वन जाता है।

तुम्हारे उस सखा ने और कहा है कि जाओ, मित्र, पहले विरह-ताप से तपी प्रिय सखी को मेरे सदेश से सान्त्वना दो, फिर नन्दी की वप्रक्रीडा से विदारित उस कैलास से तत्काल लौट मुझे भी ढाढस बँधाओ। और जो लौटो तो प्रिया से गोपनीय परिचयात्मक सवाद लिये आओ, कि मेरा हिया भी हरा हो जाय, कि प्रात कालीन कुन्द-कुसुम-सा मेरा शिथिल जीवन भी फडफडा उठे।

६

सर्गान्त

●

कालिदास की कृतियो म भी अन्य कवियो की ही भाँति सर्ग का अन्त प्रसगत होता है। जब प्रतिपाद्य दृश्य समाप्त हो जाता है तब सर्ग अपने-आप बन्द हो जाता है। यही स्थिति उनके नाटको के अको की है। परन्तु एक विशेष स्थिति ऐसी भी है जब परिस्थिति की अनिवार्यता उन्हें अपना सर्गविशेष पटाक्षप द्वारा समाप्त करना पडता है। स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि उसके बाद प्रबन्ध या कथा का अकन, कम से कम उस सर्ग या अक मे, अब सम्भव नही हो पाता।

यदि कथा का प्रसार निश्चय रूप से वर्णन की अपेक्षा करता है तब बडे सक्षेप मे कवि अगली स्थिति को बताकर आगे का सर्ग शुरू करता है। अभिज्ञान शाकुतल के पाँचवे अक म जब राजा शकुतला के साथ अनिर्वचनीय व्यवहार कर उसे निकाल देता है तब उस नितात करुण स्थिति को सँभालने के लिये कवि एक आकस्मिक अपार्थिव घटना का उल्लेख करता है—

उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम—

सहसा एक ज्योति आकाश से उतरी और शकुतला को

उठाकर उड गई। वस्तुत पत्नी-त्याग की परिस्थिति इतनी कठिन थी कि अको और दृश्यो का विधायक नाटककार भी उसका विस्तार न कर सका। उसके बाद यदि कुछ कहना बाकी रह गया तो वह मात्र घटना का उल्लेख था जिसकी ओर संकेत कर उसने अक समाप्त कर दिया।

काव्यो म कालिदास ने ऐसी परिस्थिति का नितात उदात्त कथन अथवा मुद्रा द्वारा निर्दिष्ट किया है। 'रघुवश' के चौदहवें सर्ग मे जब लक्ष्मण सीता को घने वन मे छोडते समय राम का आदेश सुनाते है तब भी कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती है। नारी को उस चोट से कवि स्तम्भित कर कथा का विस्तार कर सकता था पर ऐसा न कर उसने उसे सज्ञालुप्त कर दिया है क्योकि दीर्घकाल तक पति के निकट रहकर और दूर प्रवास मे भयकर परीक्षा के बीच भी जिसने विवेक और सदाचार न खोया था उसका परित्याग एक किवदती क परिणामस्वरूप इतना भयकर था कि उसका सम्बोधन किसी प्रकार भी सह्य न हो सकता। सो कवि ने ऐसा सोचकर ही उसे बेहोश कर दिया जिससे उस 'शॉक' से उसका परित्राण उस काल हो जाय। पर वह 'शॉक' कितना गहरा हो सकता था, परिस्थिति कितनी नाजुक, दयनीय और कठिन थी इसका बोध कराने के लिए कालिदास ने पराक्रमी लक्ष्मण को अपना लक्ष्य बनाया—सा लुप्तसज्ञा न विवेद दु ख—सीता ने उस आदश को सुन चुकने के बाद परिणामत होनेवाले दु ख को न जाना, पर उसका पूरा फोकस लक्ष्मण के ऊपर पडा। कालिदास ने अन्यत्र, आठवें सर्ग म, अजविलाप के प्रसग म कहा है कि विधाता क पास विविध जनो को मारने के विविध साधन हैं, जो जिस योग्य होता है उसे उसके अनुकूल साधन स ही देव मारता है—

अथवा मृदु वस्तु हिंसितु मृदुनैवारभते प्रजान्तक ।

मृदु वस्तुओ के नाश के लिए काल मृदु साधना का ही उपयोग करता है जैस इस प्रसग म इदुमती के निधन क लिए

उसने फूलो की माला का उपयोग किया। सो सीता का दुःख इतना मार्मिक होता कि सालो-साल वनो और प्रवास के दुख झेलने का आदी होकर भी उसका तन उसे बर्दाश्त न कर पाता। इससे उस प्राणान्तक दुख की एकातिक आकस्मिक चोट से तत्काल बचा लेने के लिए कवि ने उसे 'लुप्तसज्ञा' कर दिया। पर उस आनुपातिक विवेक की आवश्यकता कवि को लक्ष्मण के लिए न थी, इससे उनको उसने परिस्थिति की समूची कठोरता जानने और सहने के लिए सर्वथा जागरूक रखा। तब बेहोशी मे जागकर, पहली चोट से सँभलकर क्रूर आचार की रुचि बनाये रख सीता ने यह सोचा कि क्रोध अपराधी से हटकर उसके साधन को अपना लक्ष्य न बना ले, पैरो पर पडे लक्ष्मण को उठाते हुए उसने समुचित ही कहा—प्रसन्न हूँ, सौम्य, चिर जीओ।

प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव।

पर जब अनुक्रम से अपनी सासो के प्रति कथनीय कह चुकी तब उसके प्रति वह क्या कहे जिसने उसे भरपूर सती जानकर भी घने वन मे भेजा, इसकी सुधि उसे आयी। और उसके प्रति उसने जो सवाद भेजा उसका जोड साहित्य मे नही—

मान राजा का अनुचित दण्ड दिया, उसने धिक्कार कर कहा कि उसका वह आचरण अप्रीतिकर है, उसके महान् कुल के व्यक्तियो के आचरण के सर्वथा प्रतिकूल। लक्ष्मण के रहते उसने अपनी कायिक अथवा मानसिक दुर्बलता प्रकट न होने दी और यदि वह 'कुररी' की भाँति रोयी भी तो तब जब लक्ष्मण सुनने की परिधि से दूर बाहर हो चुके थे, जब नितात नारीत्व की सज्ञा लौटी और सदा पति की छाया बनकर रहनेवाली सीता ने छाया के कारण को निकट न देखा। पर जो सवाद उसने राजा को भजा वह सवाद निश्चय साहित्य मे बेजोड है। शकुतला का दुष्यत के प्रति धिक्कार प्रगल्भ है, प्रगल्भता का व्यापार द्रौपदी का कवि भारवि के 'किरातार्जुनीय' मे प्रकाशित है जहाँ उसने अपने व्यग्यात्मक वाणो से मार-मार अपने पाँचो समर्थ पतियो को जर्जर कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप महाभारत का भीषण युद्ध घट पडता है। परतु सीता की वह शात विनीत वाणी जो अकथित की ध्वनि उत्पन्न कर सार्थक होती है, उसकी शक्ति वस्तुत न शकुन्तला के धिक्कार म है न द्रौपदी क वाग्विस्तार मे। और उसकी स्थिति का अत भी वाल्मीकि ने, उसक विलाप क बाद एकातिक उदात्त कथन मे किया है। वाणी की ओजस्विता इस मात्रा मे सभवत स्वय वाल्मीकिकृत 'रामायण' मे इस प्रकार न फूटी—

> तवोदकीर्ति श्वशुर सखा मे सता सवोच्छेदकर पिता ते।
> धुरि स्थिता त्व पतिदेवताना कि तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥

मेरी कृपा की भीख माँगने का प्रसग कहाँ? पिता और श्वसुर के तुम्हारे दोनो कुल असाधारण हैं—तुम्हारे प्रख्यात श्वसुर दशरथ मेरे सखा थे तुम्हारे विख्यात पिता जनक ज्ञानियो को ज्ञान द्वारा भवसागर से मुक्त करनेवाले है, स्वय तुम पतिव्रताओ की धुरी हो, उनम अग्रणी। भला तुम्ह मेरी अथवा किसी और की अनुकम्पा की अपेक्षा क्या है?

परतु जिस सर्गान्त की बात हम नीचे कहने जा रहे है वह प्रभाव और प्रभाव क विस्तार म इन दोनो प्रसगो से भिन्न

है, शकुन्तला के अनादर से भी, सीता के परित्याग से भी। वह प्रसंग है 'कुमारसंभव' के तीसरे सर्ग के अंत का, नितांत अन्त का, अंतिम छंद का। उस सर्ग मे उमा अपना बहुविध प्रसाधन कर सखियों सहित समाधिस्थ शिव की विजय के लिए कैलास के लतागृह की ओर जाती है। मदन उसका सहायक होता है, शिव क्षणभर के लिए विचलित होते है और अपनी अधीरता में योगी के प्रतिकूल आचरण कर बैठते है। विवेक का तब सहसा उदय होता है और क्षणमात्र में शिव मदन को अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से जलाकर राख कर डालते हैं। ऐसी स्थिति में जो गति उमा को होती है वह मदन की गति से भी भीषण है, विधवा रति की दशा से भी दयनीय।

वस्तुत: निर्मम दैव ने उमा की स्थिति इतनी कठिन कर दी है कि कोई औपचारिक अथवा अनौपचारिक सान्त्वना तब उसे सँभाल न पाती। उसने देखा कि वृक्ष निष्कंप हों, भौंरे अपना कूजना बंद कर, पक्षी चुप हो, पशु अपना संचरण सहसा बंद कर जैसे साँस रोके योगिराज पर रूप का यह आक्रमण देखते रहे हैं, कि आसमान में ठसे देवता अपने संकट से रक्षा के लिए सहायक मदन का व्यापार चुपचाप देखते रहे हैं, और देखते ही देखते सहसा सारी आशा का प्रधान उपकरण काम जलकर नष्ट हो गया है। जिस रूप का रूपगर्विता को गर्व रहा था और जिसके बल पर उसने यह पुराण-प्रसिद्ध अभिनय किया था वह असफल व्यर्थ हो गया। और जो घटा भी वह मात्र शाब्दिक प्रतिकार न था कायिक नाश था, वैधव्य-सूचक अशुभ, जिसकी उमा ने कल्पना तक न की थी।

चराचर जो सहसा स्तब्ध हो गया था, क्षुब्ध रुद्र के तीसरे नेत्र के बन्द हो जाने पर भी, उनके क्रोध और संहार के प्रति देवताओं की भीत वाणी मात्र दिशाओं से टकरा-टकराकर आकाश में गूँज रही थी—क्रोधं प्रभो संहर संहरेति, निश्चय एक शब्द की, एक आवाज़ की भी तब कही गुंजायश न थी और

न किसी ने एक शब्द कहा भी, न साथ की सखियों ने और न ऊपर से निहारते कलपते देवताओं ने। एक शब्द भी स्थिति की कारुणिकता को दूषित कर नाट्यप्रभाव कमजोर कर देता। और कालिदास नाट्यप्रभाव के प्रदर्शन में अपना सानी नहीं रखते। सो उन्होंने इस असाधारण परिस्थिति में असाधारण नाटकीयता का प्रयोग किया। पहले तो उमा को भी परित्यक्ता सीता की ही भांति बेहोश कर दिया—मुकुलिताक्षी—फिर साथ की सखियो को भुला, आकाश के देवताओं को भुला, समस्त चराचर को भुला उन्होने सहसा उस स्थल पर उस एक व्यक्ति को ला खड़ा किया जो पति द्वारा रक्षाकार्य भुलाकर परित्यक्ता कन्या को वह अकेला सँभाल सकता था—पिता हिमालय को।

पतिपरित्यक्ता शकुन्तला को पितृधर्मा माता मेनका ने 'अभिज्ञान शाकुतल' में संभाला, पतिपरित्यक्ता सीता को पितृधर्मा वाल्मीकि ने 'रघुवंश' में सँभाला और अब प्रिय के प्रेम से वंचिता क्रोध से उपेक्षिता कन्या उमा को स्वयं पिता हिमालय ने सँभाला। और वह भी बोलकर नहीं मात्र आचरण द्वारा आश्वस्त कर—

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥

हिमालय बड़ी तीव्रता से घटनास्थल पर पहुँचे और रुद्र के संहारक भय से भीता प्रायः लुप्तसंज्ञा आधी बंद आँखोंवाली कन्या को जनकजन्य अनुकम्पा के वशीभूत वे ऐरावत के दाँतो से लगी कमलिनी की भांति सहसा भुजाओं में उठाकर अपने ऊँचे शरीर को और ऊँचा करते हुए वेग से जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से वापस लौट गये।

संसार के साहित्य में इतना वेगवान्, इतना मूक, इतना प्रभावजनक नाट्यस्थल नहीं, इतना सारभूत सार्थक पटाक्षेप

नही सवदा शब्दहीन पर नितात समथ, स्थिति पर पूर्णेन विजय पा लेने वाला पटाक्षेप। स्थिति की तेज़ी जितनी इस श्लोक मे प्रकाशित है मूककार्यशीलता का सामथ्य उतना ही अभिव्यजित है। तीन वार इस छन्द म कवि ने तीव्रताव्यजक शब्दो का प्रयोग किया है—एकवार सपदि' द्वारा, दूसरी वार वेग' और तीसरी वार गतिध्वनिक प्रतिपथ द्वारा। हिमालय तेजी से वनस्थली म प्रवेश करते है कन्या को महसा भुजाओ पर उठा लते हैं और एरावत की भाति वडे वड डग भरते तीव्र गति से उल्टे पैरो लौट जात हैं। 'प्रतिपथ' पद मे बडी शक्ति है, 'सपदि' और 'वेग' से भी अधिक। अर्थ है जिस राह आय उसी राह जाना, जिन पैरो आये उन्ही पैरो उल्ट लौट जाना। घनी तीव्रता का द्योतक है यह शब्द। श्लोक मे कही आवाज नही, मात्र मूक वेगवान् क्रियाशीलता है, और है उसमे ध्वनि की वह एकातिक व्यजना जिसम सौ-सौ काव्यो की चिरतन आवाज भरी है। हिमालय की भुजाओ के लिए न कवि ने 'वाहुओ' का इस्तेमाल किया न 'भुजाओ का, दोर्भ्याम का किया है। क्यो? क्योकि इस प्रकार की उदात्त रक्षापयाय परिस्थिति मे 'दोर्भ्याम्' शब्द का प्रयोग ही होता आया है। भारत की रक्षा क लिए स्कन्दगुप्त की भुजाओ के समर मे हूणो से टकराकर भँवर वना देने की स्थिति को गुप्तकालीन कवि ने 'दोर्भ्याम्' पद से ही प्रकट किया है—

हूणस्य यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।
भीमावर्त्तकरस्य—

और हिमालय 'मुकुलिताक्षी' कन्या को वैसे ही उठा लेता है जैसे गजराज ऐरावत नलिनी को दाँता से उठा लेता है। वडी व्यजना है इस उपमा म, वडो ध्वनि है। रक्षा का कार्य अत्यत उदार होना है, उसमे रक्षित और रक्षक क बीच का कायिक अनुपात अत्यत वढ जाता है। वहाँ कमलिनी, वह भी गजेन्द्र क प्रलव दाँत से लगी—लगी मात्र—जिसमे गजराज का अनायासता का बोध हाता है, और वहाँ ऐरावन का उन्नत शरीर! स्थिति

बिल्कुल वही है जो कालिदासकालीन गुप्त मूर्तिकार ने उदयगिरि की गुफा म पृथ्वी की रक्षा करत हुए महावराह की चट्टान मे उभारी है—एक घुटना जरा आगे को झुका हुआ है, कमर अपने-आप जैसे आगे को खिच आयी है और उस पर हाथ आ टिका है और थूथन क लबे दांत मे पृथ्वी की नितात छोटी मूर्ति चिपकी हुई है। कहाँ पृथ्वी, जिसकी सज्ञा म ही विस्तार और पृथुता का भाव निहित है, और कहाँ उसके अनुपात म उसके ऊपर तेज दौडनेवाला शूकर-वराह ? पर वहाँ तो वराह पृथ्वी का रक्षक है और दोना के कायिक अनुपात मे इसी कारण घना अतर पड जाता है। रक्षक महावराह विशाल हो जाता है और रक्षिता पृथ्वी नितान क्षुद्र हो जाती है। ठीक इसी प्रकार सुरगज और पद्मिनी के ही अनुपात मे हिमालय भी अपनी कन्या के समक्ष अपनी ऊँचाई व्यक्त करता है। वह रक्षिता कन्या के अनुपात मे तो पिता रक्षक के अनुपात मे महान है ही, वैसे भी उसकी प्रकृत ऊँचाई धरा पर सबसे अधिक है—२९०२८ फुट। पर हिमालय उससे भी संतुष्ट नही होता, अपने शरीर को खीचकर और ऊँचा कर लेता है—'दीर्घीकृताग'—यह केवल इसलिए कि कन्या आश्वस्त हो जाय कि उसका आश्रय कुछ साधारण नही है, कि शिव के सहार से उसक सरक्षण की प्रभुता कुछ कम नही, कि अपनी मूक मुद्रा से, अपने असीमित औदार्य से वह रुद्र के क्रोध को भी तुच्छ गिनता है। सही पति अथवा प्रिय की पालनवृत्ति से वचिता नारी का एकमात्र आश्रय पालक-पिता है। और इसीसे कालिदास ने कहा कि हिमालय तीव्र गति से वनस्थली मे आये, रुद्र के क्रोध के परिणाम से डरी प्राय सज्ञालुप्त कन्या को ऐरावत के दाँत से लगी कमलिनी की भाँति अपनी विशाल भुजाओ से नि शब्द उठाकर अपन ऊँचे शरीर को और भी ऊँचा करते वेग स जिस राह आये थे उसी राह, जिन पैरो आये थे उन्ही पैरो लौट गये। और कवि सर्ग समाप्त कर देता है।

●

७

"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"

'रूप का उद्देश्य प्रिय को आकृष्ट कर लेना है'—कालिदास की यह वाणी उनके उमा और शिव के संबंध में खूब ही घटी है। 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग से पाँचवे सर्ग तक के प्रबन्ध में कवि ने अपनी इस वाणी की सत्यता का उद्घाटन और विस्तार किया है। नारी के जीवन में, चाहे वह नारी उमा के से ऋद्ध श्रीमान परिवार की हो चाहे अकिंचन श्रीहीन परिवार की, एक समय आता है जब कायिक सौंदर्य उसे संसार को चुनौती देने पर बाध्य करता है। रूप का यह अहंकार निःसंदेह अनिवार्य होता है और जब उसकी सत्ता टूट जाती है तभी जीवन का औचित्य दाम्पत्य की परिधि में मौज मार पाता है।

रूपगर्विता उमा का वह अहकार टूट जाने के बाद स्वयं शिव ने उस तपस्विनी को उसके एकांतिक तप के परिणाम में समझाया था—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

परन्तु इस सत्य के प्रकाश के पहले जब उमा 'संचारिणी पल्लविनी लतेव' शिव को विजय को निकली तब तो रूपगर्विता का वह अहंकार उस पर हावी था ही। सम्यक् प्रसाधन कर—कुंचित

कुतलो मे वसत के टटके फूल गूंथ, कपोलो पर मकरन्द भरनवाले सिरस के फूलो को कानो पर बांध, चिबुक से दोनो ओर कपोलप्रसारित आकर्ण आकर्षक श्वेत कमनीय त्वचा-भूमि पर पत्रविशेषक की लता-टहनियां लिख, होठो को आलते मे रँग उनपर लोध का चूर्ण डाल, हाथ-पैरो को महावर से रँग डग-डग डगर पर रक्ताक छोडती, हाथ मे लीलारविंद धारे, होठो पर बरबस गिरते भौरो को, उससे चकित निवारित करती, जब उमा विजयवैजयती-सी फहराती शिव की विजय को निकली तब निश्चय उसका अभियान यम के प्रति यमी के अथवा अर्जुन के प्रति उर्वशी के अभियान से कुछ कम न था। पर उसकी यह विजय-यात्रा भी उन्ही के अभियानो की भांति निष्फल हो गई, उन्ही को भांति वह निराश हो लौटी। अन्तर दोनो मे बस इतना था कि जहां उनके अभियान केवल अभिसार के सुख तक सीमित थे उमा का अभियान दाम्पत्य की अभिलाषा लिये था। उसके रूप का गर्व टूट जाने पर साधना-भूमि से उठ, फिर वह सफल हुआ और आराध्य शिव 'क्रीतदास' हुए।

असाधारण दृश्य है। कैलास की उपत्यका सहसा वसत के साधनो से उमग उठी है। तुषाराहत तरु-लताएं सहसा फूलो म अघा उठी है, उनके कुड्मल मुकुलित हो सर्वत्र पराग बरसाने लगे है, कोकिल कूक कूक, मानिनियो का अपने प्रियो के प्रति मानभजन के निमित्त पुकार-पुकार आश्वासित करने लगे है। भौरा कुसुमरूपी एक ही पात्र मे मधु ढाल, पहले प्रिया को पिला बाद स्वय पीने लगा है, कृष्णसार मृग अपनी मृगी के नेत्र का कोया अपनी सींग से खुजा रहा है और उसके स्पर्श से मदी मृगी *अर्धनिमीलित नयनो से अभिराम लगने लगी है, स्वप्निल है।* उधर सरोवर म उतरते हुए गजराज को, हथिनियां कमल की गध से बसा, जल, अपनी सूंड मे कुछ देर रख, आत्मविभोर हो दे रही हैं और गजराज कमलदण्ड तोड-तोड उनके मस्तक पर साभार रखता जा रहा है। चकवा प्रकृति की क्रूरता से अवगत

होने के कारण मृणाल की मिठास पर अनायास विश्वास नही कर पाता और उसे पहले चखकर तभी बचे हुए को अपनी 'जाया' चकवी को खिलाता है, दाम्पत्य का अभिराम सहधर्माचरण आचरित करता है।

इस वसत द्वारा पल्लविता, पुष्पिता वनस्थली मे सर्वत्र स्पदित प्रमत्त जीवन के बीच बस मात्र एक स्थल है, लताओ के घिरे कुज के भीतर एक लिपी वेदी, जिसपर शिव 'चैलाजिन-कुशोत्तर' पद्मासन मे समाधिस्थ बैठे है। ललाट का तीसरा नेत्र बन्द है, शेष नेत्रयुगल की अधखिली ज्योति नासाग्र पर टिकी है। श्वेत शरीर भस्मावृत है जिसके सधिस्थलो पर लिपटे भुजग स्वामी की समाधिक्रिया से अवगत निश्चल पडे है। योगिराज शरीर के नवो द्वारो को बन्द कर योग की जिस आनदस्थिति मे विचर रहे है उसका गुमान भी दूसरे योगी नही कर पाते।

उनके इस रूप को देख देवताओ का कार्य साधने आए हुए सामने के नमेरु वृक्ष की सन्धि पर अपना तन टेके मदन को भय ग्रस लेता है और निराशा मे उसके हाथ से बाण और धनुष नीचे सरक पडते हैं—स्रस्त शर चापमपि स्वहस्तात्। शभु के सान्निध्य से कांपते पसीना-पसीना हुए काम की यह गति होनी स्वाभाविक ही थी।

और इधर शिव के लतागृह के द्वार पर उनके गणो का नायक नदी बायी भुजा पर स्वर्णदड टेके उँगली होठो से लगाये गणो को खबरदार कर रहा है—सावधान, चचलता बन्द करो! —'मा चापलाय'! नतीजा यह होता है कि नदी के आदेश से वृक्ष निष्कप हो जाते हैं, भौंरे कमलो मे दुबक जाते हैं, पक्षी, सर्पादि अण्डज नीरव हो जाते हैं चुप, और मृगो तथा पशुओ का चलना-फिरना सहसा बद हो जाता है, समूचा जगल जैसे चित्रित निस्पद हो उठता है।

जब सुरभित वनस्थली, समाधिस्थ शिव और निराश मदन की यह स्थिति है ठीक तभी रूपगर्विणी उमा मदन को धिक्कारती-सी

यौवन से उन्मत्त सखियो सहित प्रवेश करती है और मदन जो उसे देखता है तो सहसा उसे अपने कार्य की सिद्धि मे विश्वास हो आता है—स्वकार्यसिद्धि पुनराशशंसे—और वह अपने गिरे हुए धनुष-बाण उठा लेता है।

योगिराज शिव ही क्यों न रहे हो, पर उमा ने उस 'चारु' मात्र से सतुष्ट न रहकर अपने उस रूप को 'चारुतर' किया—'चारुतरेण तस्थौ'—एक विशेष भावभंगी से सिर को तिरछा कर आँखों को कानों तक खींच उसने उस शिव पर उपान्तों द्वारा गहरा कटाक्ष किया जिसकी आँखें लगातार उसके होठों पर फिरती जा रही थी और जिसकी योगनिद्रा पर रूप का जादू चलकर हावी हो चला था।

पर सहसा शिव का विवेक लौटा और उसने जाना कि जिस रूप से उसका धीरज छूट चला है अन्तर विचलित हो उठा है वह मात्र रूप है, तपसाजनित दाम्पत्यसाधक आकर्षण नहीं, और अपनी दुर्बलता से क्षुब्ध यह देखने के लिए कि ऐसा हुआ क्यों उसने अपना तीसरा नेत्र खोल दूर दिशाओं तक उसके प्रकाश में देखा। दृष्टिपथ में नमेरु की शाखाओं पर बैठे धनुष-चक्रीकृत किये मदन की काया आ अटकी। फिर तो त्र्यम्बक के उस नेत्र से जो आग की लपटें निकलीं उनसे मदन का शरीर जलकर भस्म हो गया। आसमान में ठसे देवता तारकासुर के वध के निमित्त अपने ब्रह्मा के सुझाये एकमात्र साधन काम को, नष्ट होते देख लाख चिल्लाते रहे—रोको प्रभो, रोको अपना यह क्रोध!—पर वह क्रोध न रुक सका मदन का क्षार करके ही विरत हुआ, उसको भस्मावशेष करके ही तीसरे नेत्र की लपटें लौटीं।

कवि की यह वाणी, जो बाद में शिव ने कही, अब सार्थक हुई—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः

निश्चय सच है कि रूप पापवृत्ति के लिए नहीं है, उससे आचार का अभ्युदय होता है, नाश नहीं होता। जिस रूप का उमा ने व्यवहार किया था वह मात्र रूप का व्यवहार था, रूप के गर्व का व्यवहार, और वह स्वाभाविक ही असफल रहा। इसीसे उमने रूप की निन्दा की—

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता

बाद जब उमा ने 'पापवृत्तये न रूपम्' का वास्तविक रहस्य समझ लिया और दाम्पत्य की अभ्यर्थना से महर्षियों को भी लज्जित कर देनेवाले तप से वह सतवती हुई तब शिव ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और उनके मुख से सहसा निकल ही पड़ा

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः—

आज से, हे अवनतांगि, तुम्हारा मैं जरखरीद गुलाम हुआ।

८

शिव की एक साँझ, एक रात

●

वह शिव की साँझ थी, कुमारसम्भव की रात। कुछ ही काल पहले देवताओ का अर्थ साधता मदन शिव की आँखो मे प्यार के लाल डोरे डाल स्वय भस्म हो चुका था, वही पार्वती के तप से फिर जी उठा था, और प्यार के मारे शिव पार्वती को लिए हिमाचल की चोटी-चोटी विहर रहे थे।

तभी दयितासखा शकर पार्थिव-अपार्थिव सुख लूट भवानी के सग अविराम डोलते सूर्य के लोहायित होते साँझ समय गन्धमादन के वन मे घुसे। भास्कर नेत्रगम्य थे, नगी आँखो सहे जा सकने योग्य, उनके सहस्रकरो से बरसते स्वर्ण से शिलाएँ काचनी हो रही थी। ऐसी ही एक शिला पर बैठे शिव बाएँ बाजू बैठी पार्वती से सूर्य की ओर हाथ उठा कर बोले—

प्रिये, वह देखो, सामने सूर्य डूब रहा है—दिनमणि तुम्हारे नयनो के कोरो की अरुणाई प्राप्त कर प्रलय काल जगत् को लीलते ब्रह्मा की भाँति स्वय दिन को निगले जा रहा है। और विवस्वान के अस्ताचल की ओर झुक जाने से निर्झरो के गिरते जलकणो से जो किरनो की आभा हट गई है तो तुम्हारे पिता हिमालय के इन प्रपातो से इन्द्रधनु का परिकर भी हट गया है।

और देखो, उधर उन चक्वे-चकवियो को ! टूटे कमलस्रज धारण किए कण्ठ, एक-दूसरे पर सर्वथा अवलंबित रहनेवाले जोडे वियोगग्रस्त हो रहे हैं और सरोवर मान की बीच की दूरी अलध्य हुई जा रही है ! उन गजो को देखो जो दिन भर सल्लकी तरु की टूटी शाखाओ के दूध से गमकती भूमि पर बैठे रहे हैं, अब उसे छोड सरोवर मे प्रवेश कर चुके हैं और साध्य क्रिया मे चढाने के लिए भ्रमरवद्ध कमलोभरा जल ले रहे हैं।

मितभाषिणि, तनिक देखना, सरोवर की काँपती लहरियो की ओर—पश्चिम दिशावलम्बी सूर्य ने अपनी सहस्रधा विभक्त प्रतिमाओ-प्रतिबिंबो से कचन का सेतु बाँध दिया है। प्रिये, इस वृक्ष पर बसेरा करनेवाला कनकरसवत पीत मण्डलवाला यह मयूर सन्ध्याकाल निरन्तर छीजती जाती धूप को पिये जा रहा है।

आकाश से सूर्य ने जो अपनी धूप खीच ली है तो वह अल्पायित जलवाले सूखे सरोवर-सा लग रहा है। उस आकाश के पूर्व भाग मे, सूर्य के पश्चिम होने के कारण, जो तिमिर का पुज दिखने लगा है, वह, लगता है, जैसे तालाब का इकट्ठा हुआ कीच है !

दिन-भर की खिली कमलिनी अब बद्धकोश (बन्द) हो रही है, पर सपुट होती हुई भी अपने प्रिय भ्रमर के प्रति जागरूक—उत्कंठित है—अपना मुखविवर क्षण भर खुला रख छोडती है जिससे बाहर भटक रहे अपने भौंरे को वह प्रीतिपूर्वक भीतर बुला सके। (द्वारे मँडराते जार के प्रवेश के लिए उसके किवाड अधखुले हैं।)

दूर पश्चिम मे सूरज डूब रहा है, सामने उसकी किरनो की जो वह लाल रेखा दिख रही है, उससे वह वरुण की दिशा कन्या-सी बन गई है। लगता है, जैसे उसने केसरमडित बन्धुजीव फूल का तिलक लगा लिया हो।

किरणो की ऊष्मा पीनेवाले सहस्रो बालखिल्यादि ऋषि रथाश्वो को मधुर लगनेवाले सामगान द्वारा अग्नि को समर्पित

तेजवाल सूर्य की वन्दना करने लगे हैं। सूर्य दिन का भार उठाये आकाश को लाघ चुका है। माग दोनो के लिए कठिन था, सूय के लिए भी उसक घोडो क लिए भी। अव उस दिन को समुद्र मे डाल उसने सास ली है, अपने घोडा का भार भी हल्का किया है। और घोडे? वह देखो, कान क चॅवरो स छुपी आखें मिच-मिचा रही हैं, दिन भर कन्धो पर रखे जुए स, घोडो के अयाल मसल गए है गरदनें झुक गई हैं। उन घोडो को विश्राम दे उनका स्वामी मय स्वय भी अस्त हो गया है।

और अब सूर्य के डूब जाने पर वह देखो, लतिक आकाश जैसे एकाएक गहरी नीद म सो गया है। तेजवानो के जीवन की बस यही प्रक्रिया है—जब तक जहा तक उनका उदय रहा तब तक वहा तक तो उनका प्रकाश फैला, पर जैसे ही वे वहाँ से हटे कि उनका प्रकाश भी गया, अन्धकार फैला, दिशाओ को उसने समेट लिया।

इस प्रकार सूर्य के पूज्य शरीर के अस्ताचल समर्पित हो जाने पर साध्वी सन्ध्या ने भी उसका अनुगमन किया, सती है। कारण कि जब सूर्य उदयकाल उसे आगे कर सम्मानित करता है तब भला अस्तकाल (विपद म) वह स्वय सूर्य की अनुगामिनी क्यो न बने?

तनिक उधर देखो कुतलावाली पार्वती—

रक्तपीतकपिशा पयोमुचा कोटय कुटिलकेशि भान्त्यमू।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकामिरिव साधु मण्डिता॥

सामने वो लाल पीले भूरे मेघखण्ड फैले हुए हैं। लगता है, यह जानकर कि तुम इन्हे देखोगी सन्ध्या ने इन्हे तूलिका से अनेक रगो मे सुन्दर रँग दिया है। देखो हिमालय के सिंहो के सटो का इन पल्लवधारी तरुओ के इन धातुमयी चोटियो को, सारी लाल हैं—डूबते सूरज ने अपनी साँझ की धूप इन्हे बाँट दी है।

देखो पार्वति एक ओर से बढते आते अन्धकार स पीडित सन्ध्या इस समय कुछ ऐसी लग रही है जैसे गेरू की नदी के एक

तट पर तमाल तरुओ की श्यामल माला खड़ी हो। दूसरी ओर डूबते सूर्य की किरणो की लाली अभी कुछ बच रही है। उस साँझ की धूपायित लाल रेखा से प्रतीची दिशा का छोर ऐसा लगता है जैसे रणभूमि मे चलाई लहूभरी तलवार की कौंध गोल तिरछी घूम गई है।

फिर सहसा रात आ जाती है।

देखो न, दीर्घनयने, रात और दिन की सन्धि इस साँझ के तेज के सुमेरु के पीछे डूब जाने से यह गाढा अन्धकार निरकुश होकर दिशाओ पर छाया, पसरता चला जा रहा है। तिमिर की निबिडता से न तो कुछ ऊपर दिखाई देता है न नीचे न आगे न पीछे, न चारो ओर। रात के आ जाने से सारा चराचर तम से उसी प्रकार घिर गया है जिस प्रकार गर्भ की झिल्ली से शिशु।

निर्मल और मलिन, अचर और चर, कुटिल और सरल गुणोवाला जितना भी ससार है वह सारा अन्धकार द्वारा आच्छन्न होकर समीकृत हो गया है, विरोधी गुणो म कोई अतर नही रहा।

कमलमुखि, पर देखो, असत् के महत्व को नष्ट करने के लिए रजनी के अन्धकार को मेटने के लिए सतो (ब्राह्मणो) के स्वामी चन्द्रमा उदित हो रहे हैं, सो उधर प्राची दिशा का मुख केतकी की उज्ज्वल धूलि स जैसे व्याप्त हो उठा है।

(तब आकाश म गगनविहारी उग आता है चारो ओर चाँदनी छिटक जाती है। रजनी जैसे नायिका बन जाती है और चन्द्रमा उसके साथ विलास करने लगता है।)

देखो पार्वति अपनी किरणे रूपी उगलियो से तमरूपी केश-राशि को सम्हाल कर, एक-एक कर (किरणे) मे एक एक बाल भले प्रकार मुखमण्डल से हटाकर चन्द्रमा रजनी के मुख को चूम रहा है। उस चुम्बन के स्पर्श से पुलकित निशा ने अपने सरोज-लोचन सम्पुट, मुकुलवत, कर लिये हैं—

अगुलीमिरिव केशसचय मनिगृह्य तिमिर मरीचिभि ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचन चुम्बतीव रजनीमुख शशी ।।

पार्वति, देखो उधर उस नये चन्द्रमा के उगने से सघन *अन्धकार के छँट जाने से निर्मल नीले आकाश को—जैसे गजो* की क्रीडा से मलिन जलवाला मानसरोवर कुछ काल बाद निर्मल नील हो गया हो ! और अब तो, देखो न, उस चन्द्रमा ने भी आरम्भ का अपना रक्ताभ रूप छोड स्वच्छ श्वेत मण्डल धारण कर लिया है। क्योकि निर्मल स्वभाव वालो मे विकार केवल काल दोष से होता है, अल्पकालिक मात्र, स्थायी नही।

चन्द्र की रश्मियो के प्रभाव से जनित चन्द्रिका के धवल बिन्दुओ से, गिरि ने, नीचे अपनी मेखला के, तरुओ पर, निद्रित मयूरो को, असमय ही जगा दिया है। देखो, सुन्दरि, उन कल्प-तरुओ के शिखरो पर जो चन्द्रकिरणो का प्रस्फुरण हो रहा है, लगता है कि शशि उन पर हारयष्टि (हार) गूँथने के उपक्रम करने आ पहुँचा है—चादनी और छाया का जो तरुपत्रो मे उहा-पोह हो गया है तो जान पडता है मानो नीलपट्ट के सूत्र (धागे) मे विरल मुक्ताएँ पिरोयी जा रही है।

सामने देखो, पर्वतमाला की ऊँची-नीची भूमि पर चाँदनी और अन्धकार जो साथ-साथ फैले हैं तो लगता है कि हाथियो की श्याम पृष्ठभूमि पर श्वेत चन्दनादि से चित्र रचना (भक्ति चित्रण, विशेषक) कर दी गयी है। कल्पतरु की फुनगियो पर लम्बायमान पडी श्वेत चाँदनी से (दोनो की सफेदी से एका-कार हो जाने से) जो रूप के स्पष्ट व्यक्त होने मे सशय उत्पन्न हो गया है उसे वेग मे बहता हुआ पवन बलपूर्वक उघाडकर प्रगट कर देता है, सो देखो, चण्डिके।

प्रिये, पत्रो से छनकर चाँदनी जो तरुओ के नीचे टूक-टूक पडी है, टपके कमनीय कुसुमो-सी लगती हैं जिनमे तुम्हारे ये श्याम कुन्तल गूँथे जा सकते हैं। और तुम जो न दग सर्वांगी वह मैं दख रहा हूँ--खण्डित सरखण्डे के-से श्वेत और स्वाभाविक

प्रसन्न तुम्हारे गण्डास्थलों पर चन्द्रबिम्ब द्वारा तुम्हारी आँखों में डाली यह चाँदनी अब चढ चली है, छिटक चली है ।

और देखो, तुम्हें यहाँ आयी जान कर गन्धमादन के देवता सूर्यकान्त मणि के लाल चषक में कल्पतरु की हाला लिए स्वयं उपस्थित हैं । हाँ, विलासिनि, वैसे जानता हूँ, तुम्हारा मुख स्वाभाविक ही आर्द्र केसर की गन्ध से सुवासित है, तुम्हारे मद-भरे लाल डोरे धारे नयन स्वाभाविक ही मदमाते हैं, सो भला तुम्हें कैसी मदिरा की आवश्यकता ही क्या ? फिर भी मदन-दीपन इस वारुणी को चखो—ऐसा कहकर शंकर ने अपनी प्रिया उस अम्बिका को मदिरा पिला दी ।

●

६

काम और कालिदास

समूचे आर्य परिवार की संस्कृतियो मे कामदेव की कल्पना अमूर्त से भिन्न शरीरी के रूप मे की गई है। वह भौतिको और मर्त्यो की भाँति जनमता और मरता है, यद्यपि मरकर वह मिट नही जाता, निर्जीव स्थिति से जीवन मे फिर लौटता है और जीवो के जनन-व्यापार का साधक होता है। 'अशरीरी' वह कहा गया है, सभवत इसीसे भारतीय मूर्ति-सपदा मे उसका रूपायन प्रायः नही हुआ। अद्यतन जहाँ तक मुझे ज्ञात है कामदेव की एकमात्र मूर्ति मिट्टी के ठीकरे पर उभारी हुई मथुरा मे मिली है। ठीकरा कुषाणकालीन है, पहली सदी ईसवी का, जिसपर पचशर मदन अपने पाँचो बाण लिये धोती पहने खडा है। काल की क्रूरता से काम का मस्तक खो गया है, पर जो कुछ बच रहा है वह स्वय प्राय दो हज़ार वर्ष पहले की हमारी कदर्प सबधी भावना को मूर्त करता है।

काम का साधारण अर्थ तृष्णा है पर भारतीय विश्वास और साहित्यिक परम्परा ने उसे देवता का पद दिया है। देवता ऐसा जो व्यक्ति को कमनीय वासना और विषयो की ओर आकृष्ट करता है। आसक्ति या सयोग उसीके सयोग से होता है, इसी

से धर्म मे भी उसकी बडी महिमा है। उसकी गणना भी स्वर्ग के देवो मे है, देवराज इन्द्र का वह सहचर है। देवताओं को बार-बार अपने अर्थसाधन के लिए उसकी सहायता लेनी पडती है। प्रजा की उत्पत्ति के लिए कामना और मोह का होना आवश्यक है, इससे कामदेव कल्याणकर भी है, वरना शिव ही उमा को व्याह कुमार को उत्पन्न कैसे करते? तारकासुर का सहार कैसे होता? पर हाँ, उसकी अति सेवा भी मारक होती है। उसीके योग से कार्य करनेवाले अतीन्द्रिय प्रनष्ट हो जाते हैं। इसीसे बौद्ध धर्म मे बुद्ध द्वारा मार (कामदेव)-विजय की बडी महिमा मानी गयी है। बुद्ध के प्रारभिक जीवन के हर मोड पर वह उनसे आ मिलता है।

कालिदास की रचनाओ मे तो वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पग-पग पर उल्लेख पाता है, रस के आरभ, प्रवाह और परिणति मे सर्वत्र उसका प्रमुत्व है, पर 'कुमारसभव' के तीसरे और चौथे सर्गों मे विशेष रूप से उसका वर्णन हुआ है। तीसरे मे शिव पर उसका मदिर आक्रमण और विध्वस है, चौथे मे उसके शव पर उसकी पत्नी रति का विलाप है। शिव भी बुद्ध की ही भाँति काम को भस्म कर देते हैं। पर यह तो 'युक्ताहारविहार' की परम्परा बाँधनेवाले शुचिकर स्मार्त मार्ग का निदर्शन मात्र है, वरना मदन क्या कभी मरता है? मर सकता है? शिव ने उसका दहन कर उसे अनग कर दिया, पर 'अशरीरी' तो वह सदा से ही रहा है। मन मे पैठकर वह उसे मथता रहता है जिससे उसका एक नाम 'मन्मथ' भी पडा है। काम शृगार का परम पोष्य है, इष्ट और शृगार-साधना मे उसीका साका चलता है। सस्कृत साहित्य काम की स्तुति से भरा पडा है। धार्मिक साहित्य तक मे इन्द्र द्वारा ऋषियो-राजाओं के तप के नाश का प्रयास काम द्वारा ही होता है। स्वय कालिदास ने असख्य बार अपने छोटे-बडे प्रसगो मे उसका स्मरण किया है। एक स्थल पर तो कवि का वर्णन इतना मार्मिक, इतना हृदयग्राही, इतना असाधारण

बन पडा है कि उसका सानी ससार के साहित्य मे कही नही मिलता। शाकुन्तल मे जब शकुन्तला के चले जाने पर दुष्यन्त विह्वल हो उठता है तब काम बौराये ग्रामो की मजरियों, कुरबको की कलियो, कोयलो की ग्रपनी सेना लिये शिशिर के ग्रन्त ग्रौर वसन्त के ग्रारम्भ मे राजा के प्रमदवन मे ग्राता है तब उसके विषाद से डर कर वह स्वयं किंकर्तव्यविमूढ हो उठता है—

चूतना चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्व रज
सन्नद्ध यदपि स्थित कुरबक तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलित गतेऽपि शिशिरे पुस्कोकिलाना रुत
शके सहरति स्मरोपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम्॥

ग्राम कबसे बौरा चले हैं पर उनकी मजरियाँ सहसा पराग को रज नही बाँध पाती, कुरबक तैयार खडे हैं पर उनकी चिटकती कलियो के मुँह सहसा खुलते-खुलते बद हो जाते हैं, शिशिर की समाप्ति पर नरकोयल के कण्ठ स्वाभाविक ही कूक उठते हैं पर कंठ मे फूटे पडते स्वर भी उसके यकायक रुक जाते हैं, उधर चराचर पर ग्रपना बाण छोडने के लिए ग्राकर्ण धनुष की ज्या के उपक्रम करता तरकश से बाण निकालता काम सहसा चकित हो सुन्न हो जाता है। इसने दुष्यन्त को विपन्न देख लिया है। ग्रार्द्र चकित भीत काम तूणीर से ग्राधे खिचे तीर को तूणीर मे लौटा देता है।

कुमारसभव के तीसरे सर्ग की एकाध झलक इस प्रकार है: तारकासुर के उपद्रवो से ग्रार्त देवताग्रो को, जब ब्रह्मा, कुमार के जनन के लिए, शिव ग्रौर उमा के विवाह के प्रयत्न करने को उत्साहित करते है तब, इन्द्र के स्मरण मे, उसका ग्रर्थसाधक काम उसके पास करबद्ध ग्रा खडा होता है—

ग्रथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृ ग
रतिवलयपदाके चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताकुरास्त्र
शतमखमुपतस्थे प्रांजलि पुष्पधन्वा॥
—कु० ३, ६४

(ससार के सभी साहित्यो ने कामदेव को रूप और अस्त्र दिये हैं पर संस्कृत की परम्परा ने जैसी उसे वेशभूषा दी है वह अनूठी है, नितान्त मृदु पर नितात प्राणहर भी। वह राजा है, वसन्त उसका सखा है, कोयल उसके वैतालिक हैं, सदेशवाही चारण। कमल या ईख उसके धनुष की डडी है, उस धनुष की डोरी भौंरो की पाँत है, समूचा धनुष ही उसका फूलो से बना है जिससे उसका 'पुष्पधन्वा' नाम सार्थक होता है)। पाच कल्पतरुओ के फूल उसके बाण है जिससे वह पचसायक' भी कहलाता है। ब्रह्मा की सलाह मान, उसी कदर्प को, इन्द्र ने, शिव पर, उसका जादू डालने के लिये, बुलाया। और वह काम जो युवतियो की भौहो के समान सुन्दर धनुष धारण करता है, उस धनुष को अपनी पत्नी रति के कगन से चिह्नित गले मे लटकाये अपने मित्र वसन्त के कर मे अनेक वीरो के अस्त्र रखे इन्द्र के स्मरण करते ही हाथ जोडे आ पहुँचा। इन्द्र क "आओ, यहाँ बैठो,' कहकर पास बिठा लेने पर उसने इन्द्र की कृपा का उत्तर दिया। फिर उनके गोपनीय कार्यो का साधक होने से रहस्यमयी वाणी म उनसे सवाद करने लगा। उसने पूछा—

आज्ञापय ज्ञातविशेष पुसा लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
अनुग्रह सस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि सवर्धितुमाज्ञया ते ॥—कु० ३ ३

आज्ञा करो, सर्वज्ञ, करणीय कहो। बताओ, तीनो लोको मे तुम्हे क्या अभीष्ट है ? मुझे याद कर मुझ पर जो अनुग्रह किया है मैं उसे तुम्हारा करणीय सपादन कर और बढाना चाहता हूँ।

कनाभ्यसूया पदकाक्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभि ।
यावद् भवत्याहितसायकस्य मत्कामुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥

कौन है वह जन जिसने नितात दीर्घ तप द्वारा इन्द्रपद की कामना कर तुम्हारे मन मे ईर्ष्या उत्पन्न कर दी है ? बता दो, फिर इस चढ धनुष से उसे जीत तुम्हारा आज्ञाकारी बना दूँ।

असमत कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्न ।
बद्धश्चिर तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुर कटाक्षै ॥

कौन है भला तुम्हारा वह शत्रु जो पुनर्जन्म के भय से मुक्ति मार्ग की साधना करने लगा है ? बताओ कि मैं उसे भ्रू विलास मे निपुण सुन्दरियो के कटाक्षो से चिरकाल के लिए बाँध दूँ।

> अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
> कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्ध ॥

ऐसा तुम्हारा शत्रु चाहे शुक्राचार्य मे ही नीति पढकर क्यो न आया हो मैं आसक्ति रूपी दूत भेज उसके अर्थ और धर्म का नाश कर दूँगा, जैसे नदी की धारा तटो को बहा ले जाती है। बस कह भर दो कि तुम्हारा वह शत्रु है कौन।

> कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
> नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयग्राहनिषक्तबाहुम् ॥

या किसी कठिन सती धर्म को निभानेवाली पतिव्रता मे तो तुम्हारा चचल मन नही रम गया ? यदि ऐसी नितबिनी की इच्छा हो तो, बोलो, ऐसे डोरे डालूँ कि वह लज्जा तज कर स्वय अपनी भुजाएँ तुम्हारे कठ मे डाल दे।

> कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानत कोपनयावधूत ।
> तस्या करिष्यामि दृढानुताप प्रवालशय्याशरण शरीरम् ॥

हे कामी, कौन है वह नारी जो आपसे सुरत न पाकर खीझ बैठी है और पैरो पर तुम्हारे सिर रखने से भी मान नही छोडती ? बताओ तो उसके मन मे ऐसा पछतावा भरूँ कि वह शीघ्र तुम्हारी कामल पत्रशैया की शरण आ जाय।

> प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्र शरैर्मदीयै कतम सुरारि ।
> बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्य स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्य ॥

प्रसन्न हो, वीर, विश्राम दो अपने वज्र को। मुझे बस बता दो कि वह कौन असुर है जो मेरे बाणो से इतना वीर्यहीन हो जाना चाहता है कि उसे कोप से फडफडाते होठोवाली नारी तक डरा दे, कि वह सर्वदा दीन हा जाय ?

> तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
> कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥

तुम्हारी कृपा से, मेरे सखे, मैं अपने कुसुमबाणो मात्र से केवल सखा वसन्त को साथ लेकर पिनाकधारी स्वय शिव का धैर्य छुडा सकता हूँ, और धनुर्धरो की तो बात ही क्या है ?

इन्द्र ब्रह्मा की बतायी बात उससे कहता है और काम उमा के प्रति शिव को अनुरक्त करने के लिए उस योगिराज के तपोवन मे डेरा डाल देता है। वनस्थली मे शिव समाधि लगाये वीरासन मे बैठे है। शरीर के नवो द्वारो को बन्द कर वह महायोगी भीतर के पवनो को रोक निर्वात दीप की लौ की भाँति निश्चल है। और उनके लतागृह के द्वार पर उनका प्रिय नन्दी सन्त्रीवत् खडा होठो पर उगली रखे गणो को शान्त रहने का आदेश दे रहा है—

दृष्टिप्रपात परिहृत्य तस्य काम पुर शुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु ससक्तनमेरुशाख ध्यानास्पद भूतपतेर्विवेश ॥

सामने शुक्रग्रह की दृष्टि बचा, जानेवाले यात्री की तरह, नन्दी की दृष्टि बचा कर, नमेरु की शाखाओ से ढके ध्यानस्थ शिव के उस स्थान पर काम छिप कर बैठा। सहसा जो वनस्थली मे काम का प्रवेश हुआ तो वह वसन्त के फूलो से भर उठी, चराचर मद मे विभोर हो वसन्तोचित क्रीडा करने लगा। पर शिव की समाधि, जैसे अखड है। उसमे विघ्न नही पडता। कन्दर्प पास ही नमरु वृक्ष पर आसन जमाये चुपचाप देख रहा है। पर जो वह मन से भी अधृष्य उस शिव का तज देखता है तो सुन्न हो जाता है। उसका धनुष हाथ से सरक कर गिर जाता है, और उसकी ऐसी दयनीय बेसुध दशा हो जाती है कि अपने धनुष-बाण का भूमि पर गिर पडना भी वह नही जान पाता।

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्र पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्त स्रस्त शर चापमपि स्वहस्तात ॥

पर शीघ्र ही उसकी मोह से रक्षा होती है—उसी समय पार्वती वसन्त के पुष्पाभरणो से सजी शिव के दर्शन को आती है। उसके अनिन्द्य रति को भी लजा देनेवाले रूप को देख कामदेव के मन मे फिर जितेन्द्रिय शकर पर प्रहार कर सकने और देवकार्य सपन्न

होने की आशा जग उठती है। और वह सरका हुआ धनुप धीरे-धीरे उठा लेता है—

ता वीक्ष्य सर्वावयवानवद्या रतेरपि ह्रीपदमादधानाम।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचाप स्वकार्यसिद्धि पुनराशशसे ॥

उमा शिव को प्रणाम कर आशीर्वाद पाती है। अब काम फतिंगे की भाँति अग्नि मे जल मरने की इच्छा से जैसे धनुप को चढा लेता है। पार्वती मन्दाकिनी मे उगनेवाले पदमो के बीजो की माला शिव को समर्पित करती है। अवसर आया जान काम अपने धनुप पर समोहन नाम का अमोघ बाण चढा लेता है फिर तो जैसे चन्द्रमा के उदय होने से समुद्र मे हलचल मच जाती है वैसे ही शिव का धैर्य भी तनिक छूट चलता है। वे उमा के कुदरुन के-से लाल होठोवाले मुख पर अपनी आँखें गडा दते है। मन मे कामना जग उठती है। उधर उमा के मन मे भी वैसे ही भावो का उदय होता है। कदम्बफल के-से अपने पुलकित तन से वह प्रफुल्लित भावभगियाँ प्रदर्शित करती है। स्वभाव् से ही सुन्दर लजीले लोचनो को और भी सुन्दर कर, मुँह को जरा तिरछा कर कटाक्ष की मुद्रा मे खडी होती है। इसी बीच सफल इन्द्रियवशी होने के कारण अपने को सभाल कर शकर अपनी अस्थिरता का कारण जानने के लिए दिशाओ मे दूर तक जो दृष्टि फेंकते है—

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्र पुनर्वशित्वादबलवन्निगृह्य ।
हेतु स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥

तो देखते क्या हैं—

स दक्षिणापागनिविष्टमुष्टि नतासमाकुञ्चितसव्यपादम ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचाप प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

कि दाहिनी आँख की कोर तक मुट्ठी से धनुप की डोरी खीचे हुए, दाहिना कधा झुकाये, बायाँ पैर मोड, धनुप को चक्राकार (गोला) किये काम उनपर बाण छोडने ही वाला है।

फिर क्या हाना था, फिर तो तप मे विघ्न पडने से, आचार से किंचित्प्राय स्खलित होने से, शिव का क्रोध भडक उठा। चढी

भौंहो के बीच उनका तीसरा नेत्र सहसा ही खुल पडा और उससे लपटें निकलने लगी—

> तप परामशविवृद्धमन्योर्भ्रू भगदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
> स्फुरन्नुदर्चि सहसा ततीयादक्ष्ण कृशानु किल निष्पपात ।।

फिर तो गजब हो गया प्रलय मच गयी, लगा कि चराचर जल उठेगा। और अभी आकाश म देवताओं की आवाज गूँज ही रही थी— 'क्रोध रोको प्रभो, क्रोध रोको—' शिव के तीसरे नेत्र से निकली उन लपटों ने मदन को जला कर भस्म कर डाला—

> क्रोध प्रभो संहर संहरति यावद्गिर खे मरुता चरन्ति ।
> तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेष मदन चकार ।।

पर मदन, दहन के बावजूद भी मरा नही। मदन कभी मरता नही, मर नही सकता। जीवन की सज्ञा है वह, उसका आधार, कामना का सर्वस्व। अनन्त अनन्त रुद्रों की कोपाग्नि वह अपने उपहास से बुझा देता है, और फिर फिर, अवधूतों के चिता धूम से दूर, जीवितो के ससार को, अपने अक्षय हास की कोमल शरच्चन्द्र मरीचियो से, नित नयी काम्य सम्पदाओं से, भरता रहता है। उसके सचरण से मानुस की आस मरने नही पाती स्नेह की बाती छिन छिन जलता है पर चुकती नही। मोह के पजर म डोलती आकुल छाया पर काम अपनी किरणों से कचन का पट बुन चलता है।

२०

कालिदास और शिष्ट आचरण

●

समाज के व्यक्तियो के पारस्परिक शिष्टाचार से उसकी सांस्कृतिक प्रगति का परिचय मिलता है। सौजन्य जीवन के समाजगत व्यवहार का मापदण्ड है। सभ्यता अपने अन्तिम विश्लेषण और प्राथमिक स्थिति में, सभा मे बैठने की तमीज़ है और सभा में बैठने की तमीज सभ्य को उस स्थिति का ज्ञान कराती है जिसमें वही अकेला नही अनेक है और इस बात का कि वह अपने से भिन्न उन अनेकों से कैसा व्यवहार-व्यापार करे। जिस समाज में जिस मात्रा में व्यावहारिक शिष्टता, धैर्य और शान्ति होती है वह उसी मात्रा में सभ्य और सस्कृत समझा जाता है। सामाजिक व्यवहार मे *प्रेम, घृणा, मान, अभिमान, क्रोध, शिष्टता,* सभी होते हैं। कालिदास के समाज मे भी वे थे और उस कवि ने उनका आचरणगत वर्णन भी भरपूर किया है। इसमे सन्देह नही कि इस आचरण का कवि द्वारा प्रतिविम्बन अधिकतर स्वयं कवि के व्यक्तिगत आचार पर निर्भर करता है, परन्तु उसके स्वयं भी सावधि समाज का प्रतिविम्ब होने से परिणामतः उसका स्वरूप एक अर्थ में अपने समाज को ही प्रतिविम्बित करता है। कालिदास मधुर शिष्ट होने के कारण सामाजिक औचित्य के विधायक-प्रसारक हैं और अपने काव्यों-नाटकों की अनन्त

सामाजिक परिस्थितियों मे उन्होने समाज के बहुमुखी व्यवहार और उसके भाव-व्यापार का प्रत्यक्ष विन्यास किया है, पर यहां केवल सकेत रूप से ही उनके उन व्यापार-व्यवहार सूत्रो का उद्घाटन सभव हो सकेगा। अस्तु।

सस्कृति स्वाभाविक नही रुढीभूत कृत्रिमता है जिसकी भित्ति-शिला औपचारिकता है। वह सस्कारजन्य है और व्यक्ति के आन्तरिक मनोभावो से कही अधिक उसके समाज मे सीखे और व्यवहृत उपचारो पर आश्रित होती है। सभापण मात्र से व्यक्तियो मे परस्पर सबध स्थापित होते हैं (सम्बन्धमाभापणपूर्वमाहु., रघु०, २,५८)। सज्जनो की परस्पर मित्रता, ऐसा मनीपियो ने कहा है, सात शब्द बोलने (या साथ-साथ सात पग चलने) मात्र से हो जाती है (सता सगत मनीपिभि साप्तपदीनमुच्यते। कुमार० ५,३६)। इस शब्द अथवा गति-व्यापार से व्यवस्थित समाज का अवतरण होता है तथा उच्चावच स्थितियो का बोध भी।

समाज की उच्चावच स्थितियो को वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी होने से कालिदास स्वीकार करते हैं। समाज मे वर्ण, वय आदि के अनुसार, परिवार मे नर-नारी, बडे-छोटे होने के अनुसार वे उनके सम्बन्धो का उल्लेख करते हैं। यद्यपि, परम्परा से भिन्न यह कवि विशेष स्थितियो मे वय और स्त्री-पुरुष के भेद का तिरस्कार भी कर देता है, मनीपियो के विवेक के अनुकूल, जिसमे पूजा के कारण गुण होते हैं, न वय न लिंग—गुणा पूजास्थान गुणिपु न च लिंग न च वय। कालिदास के इष्ट देव स्वय शिव सप्तर्षियो के आने पर उनके साथ ही वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती की भी यह मान कर मुनिवत् पूजा करते हैं, उनमे भेदभाव नही करते, कि सज्जनो मे चरित्र ही पूजनीय होता है, लिंग तथ्य नही। स्त्री विशेषत इससे भी पूजनीया है कि धार्मिको की धर्म-क्रियाओ की मूल प्रेरिका और कारण वही होती है। इसीसे अरुन्धती को देखते ही शिव मे पत्नी के प्रति आदर के भाव का उदय हो आता है—

तामगौरवभेदेन मुनीश्चापश्यदीश्वर ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्त हि महित सताम ॥
तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयादारायमादर ।
क्रियाणा खलु धर्म्याणा सत्पत्न्यो मूलकारणम ॥
(कुमार० ६,१२ १३)

वय के सबध म ता कवि न स्पष्ट ही कहा है—न धर्मवृद्धेषु वय समीक्ष्यत (वही, ५, १६)—धमाचरण मे जा महान् हैं उनकी आयु नहा देखी जाती, आयु द्वारा उनकी महत्ता नहीं मापी जाती। फिर भी एकाश म वय और लिंग दोनो सामाजिक आदर और उपेक्षा क आधार रहे हैं। उसी आधार से उनक परस्पर आचरण का व्यवस्था भी हुई है। कवि के काव्यो म वह आचरण स्पष्ट उदाहृत है। उनम छोटे बडा के प्रति आदरसूचक नमन करत हैं जिसको 'प्रणामक्रिया' (रघु०, ६,२५) कहा गया है। बडो के प्रति नतमस्तक होते छोटे 'प्रणाम' (वही, १४, १३, ६०, १५ १४, कुमार० ३ ६२), 'वन्द' (रघु०, १३, ७०, ७७, १४, ५ ७१) अथवा नमस्ते (मालवि०, पृ० ६८) शब्द का उच्चारण करते हैं। गुरु (रघु०, १, ५७), माता (वही, ११, ७, कुमार० ७, २७) अथवा पिता (रघु०, ११, ४, ५) के चरणो पर गिर कर (प्रणिपत्य पादयो रघु० ८, १२, ६, ८६, १०, ७०, १४ २ ६०, शाकु०, पृ० १४५) प्रणाम करते थे। बड प्रणाम क उत्तर म आशीर्वाद (रघु०, ११, ६, ३१, कुमार०, ६, ६०, विक्रमो०, पृ० १२७) देते थे जिसकी आयुष्मान् (जिओ, दीर्घायु हो !) आदि कहन का अनेक विधियाँ थी। तापस, राजा को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करने का आशीष देता था (चक्रवर्तिन पुत्रमाप्नुहि, शाकु०, पृ० २१) शिव न उमा क प्रणाम का उत्तर कुमारसम्भव (३, ६३) म 'सर्वथा अनुकूल पति प्राप्त करो !' (अनन्यभाज पतिमाप्नुहि) कहकर दिया है और उमा को वधूरूप मे वृद्धाओ न 'तुम्हें पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त हो !' (अखण्डित प्रेम लभस्व पत्यु (वही, ७, २८) कहकर दिया है। चरणो म पडे

हुए लक्ष्मण को उठाकर सीता आशीर्वचन कहती है—प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव (रघु०, १५, ५६)—प्रसन्न हुई, सौम्य, चिर जीओ। आशीर्वाद प्राप्त करनेवाला आशीर्वाद के उत्तर मे प्रतिगृहीतम् (शाकु०, पृ० २१)—अनुगृहीत हुआ—कहकर आभार प्रगट करता था। लोग ऋषि से विदा लेते समय उसकी और ऋषिपत्नी की प्रदक्षिणा करते थे (अग्नि की भी, रघु०, २, ७१)। ऋषि आदि बडे, विदा करते समय, अपने कृपापात्रो का मार्ग निष्कण्टक होने की कामना करते थे (शिवास्ते पन्थान सन्तु (शाकु०, पृ० १४८)। बडो से बात करते समय छोटे विनीत हो, कुछ आगे को झुककर, अत्यन्त शिष्ट, और संयमित शब्दो मे अपनी बात कहते थे (रघु०, ५, ३२), अनुरोध अथवा याचना करते समय दोनो हाथो को जोड लेते थे (वही, २,६४)। गुरु और मन्त्रियो के साथ चलते समय राजा गुरु को आगे और मन्त्रियो को पीछे करके चलता था (रघु०, १३, ६६)। बडो की आज्ञा, विनय के कारण, तर्क का विषय, नही बन सकती थी (आज्ञा गुरूणामविचारणीया, वही, १४,४६)। उसके औचित्य-अनौचित्य पर, बिना विचार किये, उसे स्वीकार करना, अनिवार्य माना जाता था। विनय, विशिष्ट गुण (वही, ३, ३४) माना जाता था और राजा तक अपने परिचरो आदि से, कोमल वाणी मे बोलता था (वही, २५)। विनय, कालिदासकालीन समाज मे शिक्षा का मण्डन माना जाता था, मूर्धन्य अलंकरण (वही ६, ७६)। दो बराबरवाले जब मिलते थे तब, या तो एक दूसरे से हाथ मिलाते थे (परस्पर हस्तौ स्पृशत, विक्रमा०, पृ० २१) या एक-दूसरे के गले लगते थे (रघु०, १३, ७३)। मेघदूत (पूर्व, ४) मे विरही यक्ष मित्र मेघ का स्वागत पुष्प और अर्घ्य द्वारा करता है। दूरस्थ सम्बन्धियो को कुशल-क्षेम (योगक्षेमम्, मालवि० पृ ६८) भेजते थे।

भारत ने अतिथि को सदा देवकल्प माना है, 'अतिथिदेवो भव' के अनुशासन मे उसके प्रति देवभाव बरतना अपेक्षित है।

कालिदास ने भी अपने 'अर्चयित्वा' (रघु०, १, ५५, ५, ३, ११, ३५ कुमार०, ५ ३१, ३२) पद द्वारा उसकी पूजा का विधान किया है। अतिथि को पग धोने के लिए जल देकर वेत्रासन भद्रासन अथवा भद्रपीठ पर बिठाने का उल्लेख हुआ है। उसके इस प्रकार बैठ जाने के बाद अर्घ्य द्वारा उसका देववत् सत्कार होता था। अक्षत मधु, दूब आदि से बना अर्घ्य देवताओ, महापुरुषो जामाताओ आदि के आतिथ्य मे प्रयुक्त होता था। राजा ऋषि और *अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियो को विशिष्ट अतिथि मानकर* (अतिथिविशेषलाभेन) उनका सत्कार और भी विनीत हुआ करता था। पूर्व परिचित अथवा पुराने मित्र का आतिथ्य स्वागत, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पुष्पो से अजलि भर अर्घ्य के साथ मधुर मुखर वाणी से किया जाता था।

सामाजिक व्यवहार की शिष्टता का सूत्रवत् उल्लेख कर चुकने के बाद उच्चरित शब्द और विनीत वाणी द्वारा व्यक्तियो के परस्पर कथोपकथन पर दृष्टिपात भी आवश्यक हो जाता है। वस्तुत उसी प्रसग मे विशेषत विनय और शिष्टता का उपयोग हुआ है।

इस प्रकार के कथोपकथनो और शालीन गिराओ की व्यापकता कवि के काव्यो मे भी बडी है, उसके नाटको मे तो नि सन्देह अनन्त है। सवादप्रधान होने के कारण नाटको में कथोपकथनो का स्वाभाविक ही बाहुल्य है, जिनकी ओर एक मात्र सकेत किया जा सकता है। पर काव्यो मे भी कुछ स्थल ऐसे हैं जो प्रगल्भ वाणी के चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। अज-विलाप, रति-विलाप दिलीप-सिह वार्ता, रघु-इन्द्र वार्ता, पार्वती शिव (ब्रह्मचारी रूप मे) सवाद, कुश-राज्यलक्ष्मी सवाद, काम-इन्द्र प्रसग सीता-वाल्मीकि के वाक्योवाक्य, नाटक म कण्व के शकुन्तला के प्रति वचन, समूचे मेघदूत की प्रवहमान शालीन मित्र के प्रति मित्र की, प्रिया क प्रति प्रिय की गिरा, इन काव्य नाटकगत परिस्थितियो मे स मात्र कुछ है जिनमे पात्रो की शिष्टवाणी मुखर हुई है।

भवन्ति नम्रास्तरव फलागमैं-
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घना ।
अनुद्धता सत्पुरुषा समृद्धिभि
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम ॥

(विक्रमो० ३ १२)

समृद्धि से सज्जन उद्धत न होकर विनीत हो जाते हैं, जैसे फलागम (से फलो से लदकर) तरु झुक जाते हैं, जैसे नए जल से भरे मेघ नीचे लटक आते हैं—इस भूमिका के साथ विक्रमोर्वशी का राजा पुरूरवा, जो उर्वशी के प्रति आकृष्ट हो, स्वकीया के प्रति अपने अपराध से झुका है, खण्डिता रानी औशीनरी—पतिप्रसादन व्रत मे रत प्रिया—से अतिविनीत मधुर वाणी मे आत्मनिवेदन करता है—

अनेन कल्याणि मृणालकोमल
व्रतेन गात्र ग्लपयस्यकारणम ।
प्रसादमाकाक्षति यस्तवोत्सुक
स किं त्वया दासजन प्रसाद्यते ॥

(वही १३)

भला, कल्याणि, यह व्रत का सभार क्यो ? क्यो इस कमनीय कमल-कोमल काया को अकारण व्रत से गला रही हो ? भला जो स्वय तुम्हारी प्रसन्नता के लिए दासवत् उत्सुक है उसके प्रसादन के लिए व्रत कैसा ? छोडो रानी, व्रत छोडो, अकिंचन किंकर पर प्रसन्न हो।

केशी दैत्य द्वारा अपहृता उर्वशी का पुरूरवा द्वारा उद्धार हो जाने पर भी असुरसघात से मूर्च्छिता अप्सरा जब सज्ञा लाभ नही करती तब राजा असाधारण मधुर शब्दो मे उसके भय का निवारण करता है—

गत भय भीरु सुरारिसम्भव
त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिण ।

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायत
निशावसाने नलिनीव पंकजम् ।
(वही, १, ६)

भय छोडो, अब भय का कारण असुर न रहा । त्रिलोक की रक्षा करनेवाली इन्द्र की महिमा फिर लौटी, विराजने लगी । खोलो, इन दीर्घायत अपने कमलनयनो को, जैसे निशावसान मे, पौ फटते नलिनी खिलकर अपने नलिनविलोचन खोल देती है । कितना मधुर आश्वासन है, किसी साहित्य मे प्रणयी अपनी प्रिया से इतनी कोमल गिरा मे इतना स्वादु न बोला। उमा के प्रति शिव का समर्पण भी इसी प्रकार विनीत है—अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दास क्रीतस्तपोभिः—पार्वति, आज से, मैं तुम्हारा दास हुआ, तप से खरीदा हुआ ।

स्वयं यक्ष का मेघ के प्रति वक्तव्य अत्यन्त शिष्टवाणी मे हुआ है—मेघ, पुष्कर और आवर्त्तक नाम के जगद्विख्यात विशिष्ट कुलो मे जन्मे हो, इन्द्र के कर्मचारी कामचारी हो, मनचाहा रूप धारण कर विचरनेवाले, इसीसे दैव का मारा, अपनो से दूर होने के कारण तुमसे याचना करता हूँ । तुमसे याचना करता हूँ,—क्योकि तुम गुणसम्पन्न हो, और जानता हूँ—अधिक गुणवाले से याचना करना, निष्फल हो जाने की सभावना के बावजूद, भला है, सफल होने की सभावना होते भी अधम से माँगना अनुचित है । प्रार्थना मे तनिक चाटुकारिता का पुट निश्चय है, पर है वह शिष्ट शालीन—(पु० मेघ, ६)—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

निशीथ के एकान्त मे अपने ही शय्यागार मे सुन्दरी अनायास आ जाय तो गृहस्थ क्या करे, किस विधि से उससे बोले, इसमे अयोध्या की राज्यलक्ष्मी के कुशावती मे राजा कुश के शयनागार

मे आ जाने पर कुश का सबोधन प्रमाण है—

> का त्व शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारण ते ।
> आचक्ष्व मत्वा वशिना रघूणा मन परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥
> (रघु १६ ८)

कौन हो तुम, शुभे ? किसकी जाया हो ? आधी रात को मेरे समीप एकान्त मे तुम्हारे आने का कारण क्या है ? और यह निश्चय जान कर बोलो कि रघुवशियो का मन परदारा से विरत होता है । राजा ने वैदर्भी ललित पदावली मे बडे कोमल रीति से उस परिस्थिति म अपने आपको भी सावधान किया, निशीथ की नारी को भी ।

ब्रह्मचारी के रूप मे छद्मवेशी शिव जब तपती पार्वती के समीप पहुँचते हैं तब आतिथ्य स्वीकार विनीत आत्मीयता-भरी वाणी मे उपचार की भाषा मे पहले दो-चार आवश्यक शारीरिक बातें पूछ—धार्मिक क्रियाओ के लिए वस्तुएँ सुलभ तो है, हरिणियो से खीझ तो नही होती, उनमे मन रम तो जाता है उतना ही तप तो करती हो जितना शरीर सह सके क्योकि शरीर ही सारे धार्मिक अनुष्ठानो का आदि साधन है—बडी विधि और औपचारिक शिष्टता से मर्म की बात कहते हैं—

> अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमा द्विजातिभावादुपपन्नचापल ।
> अय जन प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्य प्रतिवक्तुमर्हति ॥
> (कुमार० ५ ४०)

(सात पद बोलने से ही मैत्री सबध हो जाता है सो हो ही चुका है), आतिथ्य सत्कार कर जो आत्मीयो सा व्यवहार किया है, इसमे प्रगट है कि मुझे आप अब पराया नही मानती (वही, ३९) । इसमे और विशेषकर आपकी क्षमाशीलता को देखकर *(सकेत है कि अभद्रता हो तो क्षमा कर देंगी)* मेरा साहस कुछ बढ गया है वैसे ब्राह्मण होने से स्वभाव से ही मुझमे जिज्ञासा की चपलता भी कुछ कम नही । सो 'यह जन' कुछ पूछने की धृष्टता करता है, जो गोपनीय न हो तो, हे तपोधने उत्तर देने

की कृपा करें । इसमे 'तप की धनी' पार्वती के सामने 'यह जन' कहकर अपनी अकिंचनता भी प्रगट की गयी है । फिर स्वीकृत सूचना से आश्वस्त हो वह पूछता है कि इस घोर तप का आखिर कारण क्या है ? स्वर्ग की इच्छा हो नही सकती क्योंकि आपके पिता की भूमि ही देवताओ का निवासस्थल है, और जो पति की कामना मे तप करती हैं तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि (संमोहक रूप के रहते उसकी क्या आवश्यकता ?) आखिर लोग रत्न को खोजते हैं, रत्न स्वय लोगो को नही खोजा करता—इसमें रूप की शिष्ट चाटुकारिता है—

> दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमय ।
> अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥
> (वही, ४५)

और वही ब्रह्मचारी जब शिव की निन्दा करने लगता है तब पार्वती का रुख सहसा बदल जाता है, धैर्य और क्षमा क्रोध का रूप धारण कर लेते हैं । तमक कर सखी से कहती है—देख सखी, इस ब्रह्मचारी के होठ कुछ फिर हिले, लगता है मना कर देने पर भी यह कुछ कहनेवाला है, रोक इसे और जान कि महात्माओ की निन्दा का पाप केवल निन्दा करनेवाले को ही नही सुननेवाले को भी लगता है—

> निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
> न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥
> (वही, ८३)

सीता की अकिंचनता, प्रसन्नता, शालीनता, क्रोध आदि का शब्दान्वयन जो कवि ने किया है वह असामान्य है । वन से लौटने पर सासों को प्रणाम करते समय वह कहती है—मैं ही हूँ, पति को क्लेश दिलानेवाली कुलक्षणा सीता—क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति । और तब चरणों मे पड़ी सीता को उठाते हुए माताएँ कहती हैं—उठ बेटी, और जान कि तेरे पति यह पुरुषोत्तम राम अपने अमनुजकर्मा अनुज लक्ष्मण के साथ आज तेरे ही तप और पावन

व्रत के प्रभाव से महान् सकट से मुक्त हुए हैं—उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव। कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति—(रघु०, १४,६)। सीता का राम द्वारा परित्याग, सीता और लक्ष्मण दोनो के लिए कठिन हुआ। अपने कष्ट को दबाकर प्रणाम करने के लिए चरणो मे पडे लक्ष्मण को उठाकर सीता ने आशीर्वचन कहा—प्रसन्न हूँ, सौम्य चिर जीओ। जानती हूँ, गुरुजन के आज्ञाकारी होने मे तुम लाचार हो, परवश मात्र आज्ञा का पालन कर रहे हो, इन्द्र के अनुज विष्णु की भाँति—

प्रीतास्मि त सौम्य चिराय जीव। बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्राता यदित्थ परवानसि त्वम्॥ (वही, ५६)—और फिर जब याद आता है कि पति को सवाद भेजना है तब सहसा क्रुद्धवाणी फूट पडती है—

वाचस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मा लोकवादश्रवणादहासी श्रुतस्य किं तत्सदृश कुलस्य॥

(वही ६१)

'कहना उस राजा से'—पति या भाई से नही—'मेरे शब्दो मे कहना—अग्नि मे डालकर (सोने को तपाकर) जिस मेरी शुद्धता को तुमने परखा था उसे आज लोकापवाद के डर से अकारण त्याग, जो आचरण कर रहे हो वह क्या उस यशस्वी सूर्यकुल के योग्य है ?' और तब वह अचेत होकर, लक्ष्मण के जाने पर, गिर जाती हैं। फिर विलाप करती जनकनन्दिनी को पहचान उसे अपनी रक्षा मे लेते हुए वाल्मीकि भी जिस गिरा का उद्गार करते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है—तुम्हारे यशस्वी श्वसुर मेरे सखा थे, साधुओ के भवबन्धन काटनेवाले जनक तुम्हारे पिता थे, स्वय तुम पतिव्रताओ मे अग्रगण्य, उनकी धुरी सम्हाले हुए हो, फिर भला मेरी दया की याचना कैसी ? मेरी रक्षा की तो तुम स्वाभाविक ही अधिकारिणी हो (वही, ७४)। मूल की शालीनता दुर्लभ है—

तवोरुकीर्ति श्वशुर सखा मे सता भवोच्छेदकर पिता ते ।
धुरि स्थिता त्व पतिदेवताना किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥

रघु और इन्द्र का सवाद भी बडा गरिम है। पिता के यज्ञाश्व को जब इन्द्र चुरा लेता है तब अश्वरक्षक युवा रघु शिष्ट वाणी मे उसे सयत धिक्कारता है—देवेन्द्र, मनीषी कहते है, यज्ञ के भाग के पहले अधिकारी आप है फिर, हे नित्य दीक्षित, निरन्तर निधि क्रियाओ मे सलग्न आपके ही अर्थ यज्ञ करते मेरे पिता के यज्ञ-मे यज्ञ का अश्व चुरा कर भला आप यह विघ्न क्यो डाल रहे है ? (वही, ३,४४)

मखाशभाजां प्रथमा मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरो क्रिया विघाताय कथ प्रवर्तसे ॥

रघु के अभिमान भरे वचन को सुनकर उससे प्रभावित हो अपने रथ को इन्द्र ने तत्क्षण लौटाया और उस वचन की शालीनता पर विचार करता वह स्वय उसका उत्तर देने को उद्यत हुआ। इस प्रक्रिया और इन्द्र के उत्तर दोनो का कवि ने बडा गरिम वर्णन किया है—

इति प्रगल्भ रघुणा समीरित वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्तयामास रथ सविस्मय प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥
(वही, ४७)

और उत्तर इस प्रकार था—सही राजकुमार, बात तुमने नि सन्देह सच कही है, परन्तु हमारे जैसे यशस्वियों का अपने यश की शत्रुओ से रक्षा करना भी स्वाभाविक है। तुम्हारे पिता हमारे विश्वविख्यात यश को यज्ञ द्वारा तिरस्कृत करने पर तुले हैं, क्या करूँ ?—

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्य परतो यशोधनै ।
जगत्प्रकाश तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लंघयितु ममोद्यत. ॥
(वही, ४८)

तारकासुर के वध के लिए जब कुमारसम्भव के अर्थ इन्द्र को पार्वती के प्रति शिव का मन आकृष्ट करने की आवश्यकता

हुई तव उसने कामदेव को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। इन्द्र और काम का सवाद कवि द्वारा कुमारसम्भव, सर्ग ३, मे प्रस्तुत पर्याप्त मार्मिक है। आते ही मदन देवराज से पूछता है, सर्वज्ञ, आज्ञा करें, तीनो लोको म आपको क्या कराना अभीष्ट है? मुझे स्मरण कर आपने मुझपर जो अनुग्रह किया है करणीय सपादन कर मैं उस और बढाना चाहता हूँ।

बोलो, कठिन मती धर्म को निभानेवाली किस पतिव्रता मे तुम्हारा चचल मन जा रमा है? जो उस नितविनी की इच्छा हो तो ऐसा करूँ कि लज्जा तज कर वह स्वय अपनी भुजाएँ तुम्हारे कठ मे डाल दे—

कामेकपत्नीव्रतदु खशीला लोल मनश्चारुतया प्रविष्टाम ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जा कण्ठे स्वयग्राहनिषक्तबाहुम् ॥७॥

फिर अन्त म काम इन्द्र को कार्य की सफलता मे आश्वस्त करता हुआ कहता है—

प्रसन्न हो, वीर, अपने वज्र को विश्राम दें बस मुझे बता द, वह कौन असुर है जा बाणो से इतना वीर्यहीन हो जाना चाहता है कि उसे कोप से फडफडाते होठोवाली नारी तक डरा दे।

सस्कृत साहित्य मे क्रोध और उसके परिणाम शाप का इतना ओजस्वी वर्णन अन्यत्र कही नही हुआ जितना शाकुन्तल के अक ४ म हुआ है—

आ अतिथिपरिभाविनि,
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितो पि स
न्कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव॥१॥

हे अतिथि का अपमान करने वाली, सुन! जिस प्रिय का ऐसे अनन्य मन से स्मरण कर रही है कि मुझ तपोधन के स्वय आ उपस्थित नही पहचानती, वह भी होने पर भी तुझे ऐसे भूल जाएगा जैसे पागल

अपने पहले किये कार्यो को नही पहचान पाता, बार-बार याद दिलाने पर भी वह तुझे पहचान नही सकेगा।

मेघदूत (उत्तर) मे यक्ष अपनी प्रिया को सवाद के प्रसग मे जो आश्वासन भेजता है वह कथन की गरिमा के साथ ही नियतिग्रस्त जीवन का भाग्यचक्र भी अद्भुत शक्ति के साथ प्रकट करता है—कल्याणि, किसने सर्वथा सुख ही भोगा है? किसने सर्वथा दुख ही भोगा है? अरे, सुख-दुख तो रथ के चक्के की नाई कभी ऊपर कभी नीचे होते रहते है—यही बार-बार विचार कर मैं अपने आप ढाढस बाँध लिया करता हूँ, तुम भी यही विचार कर धीर धरो—

> नन्वात्मान बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे
> तत्कल्याणि त्वमपि नितरा मा गम. कातरत्वम्।
> कस्यात्यन्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा
> नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४६॥

उत्तर मेघदूत, ५२, मे यक्ष द्वारा मेघ के प्रति जो कृतज्ञता प्रकाशन है वह भी बडा मार्मिक है, आशीर्वाद सहित सम्पन्न हुआ है—

> एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
> सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया।
> इष्टान्देशाजलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्री-
> र्मा भूदेव क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग ॥

मेघ, प्रिय मित्र, तुमसे मैंने अनुचित निवेदन किया है। तुम पर कार्य का बोझ लादना अनुचित ही है। फिर भी मित्रता से अथवा मुझे विरही विपन्न जानकर दया के विचार से मेरा यह कार्य कर देना। फिर तुम वर्षा के दिनो मे मनमाने देशो मे विचरना। मेरी यह उत्कट कामना है कि तुम्हारी प्रिया बिजली से तुम्हारा क्षण भर भी वियोग न हो।

यह भावुक कृतज्ञता शाकुन्तल, ७, ३० मे अत्यन्त कौशल से प्रगट की गयी है। विनीत शिष्ट दुष्यन्त मरीचि के आश्रम मे शकुन्तला से मिलने पर, जिस पुत्र की कामना उसके हृदय को

सदा सालती रहती थी, उसके वहाँ अनायास मिल जाने पर ऋषि के प्रति अति सस्कृत वाणी मे आभार प्रगट करता है—

> उदेति पूर्वं कुसुम तत फल
> घनोदय प्राक्तदनन्तर पय ।
> निमित्तनैमित्तिकयोरय क्रम-
> स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पद ॥

भगवन्, आपकी कृपा से सारी सम्पदा बिना कारण-कार्य की अपेक्षा किये ही उपलब्ध हो जाती है। प्रकृति का नियम है, कारण पहले होता है, कार्य-परिणाम पीछे पहले फूल लगते हैं पीछे फल, पहले मेघ आते हैं फिर पानी बरसता है—पर इस क्रम की सत्ता आपका सयोग होते ही कृपापात्रो के सम्बन्ध मे नष्ट हो जाती है—क्योकि आपके अनुग्रह से फल पहले मिल जाता है, उसके लिए कार्य पीछे होता है। सो मैं अत्यन्त उपकृत हूँ, अकारण पुरुषार्थविहीन सपत्तिवान्। मधुर कोमल पदावली मे कठिन भावो का इतनी सुघराई, इतनी सादगी से प्रकाशन हुआ है कि मन नाच उठता है।

शाकुन्तल मे दो स्थल नितान्त शालीन हैं। उनमे से एक शार्ङ्गरव द्वारा प्रगटित राजा के प्रति कण्व का सन्देश है, दूसरा स्वय कण्व के प्रस्थान के समय शकुन्तला के प्रति आशीर्वचन हैं। प्रशसात्मक गरिम गिरा मे शार्ङ्गरव कहता है—

> त्वमर्हतां प्राग्सर स्मृतोऽसिय-
> च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
> समानयस्तुल्यगुण वधूवर
> चिरस्य वाच्य न गत प्रजापति ॥ (५, १५)

तुम जैसे पूजनीयो मे अग्रणी प्रसिद्ध हो, यह शकुन्तला भी वैसे ही मूर्तिमती सत्क्रिया है। ब्रह्मा प्राय असमान गुणोवाले वर-वधुओ को परिणय-सूत्र म बाँध हास्यास्पद बन जाता है, पर केवल तुम्हारे प्रसग मे समान गुणवालो को एकत्र कर वह दोषमुक्त हो गया है।

कण्व का आशीर्वचन तो साहित्य मे अनुपम है—शकुन्तला को मार्ग मे थोडी थोडी दूर पर नील कमलो से श्यामल सरोवर मिलें, सूर्य की प्रखर धूप को सह्य बनानेवाले घने छाया-वृक्ष मिलें, राह की धूल पद्म की पराग-सी कोमल हो जाय, शान्त-शीतल बयार बहे, यात्रा निर्विघ्न हो।

रम्यान्तर कमलिनीहरितै सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखताप ।
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्या
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था ॥ (४, १०)

२२

कालिदास का मानवेतर विलास

प्रकृतिविलास सम्स्कृत कवियो का सहज धर्म रहा है। जिस निष्ठा और आयासहीन प्रवृत्ति स उन्होने प्रकृति से साहचर्य किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि से जगन्नाथ तक की अटूट कवि-परम्परा ने तृण से अश्वत्थ तक, वीरबहूटी से मत्त गयन्द तक अपनी विविधता मे अनन्त प्रकृति को चौसर निहारा है, नयन सँवारा है। कालिदास ने विशेष।

मानव जैसे सृष्टि का केन्द्र है, कालिदास के कवित्व का केन्द्र भी वही है, पर केन्द्र ऐसा जो कभी एकाकी नही हो पाता, सदा उसम उसके सानिध्य और सदर्भ म प्रकृति मुखर रहती है। मानव, मानव के प्रति उदासीन हो जाता है, वह उसे तज देता है, पर प्रकृति उस कभी नही तजती, सदा उसे घेरे रहती है, उसको सहानुभूति कभी उसे छोडती नही। नीचे हम कालिदास के उसी मानवेतर विलास पर एक नजर डालेंगे, ओषधि-वनस्पतियो पर नही—क्योंकि उनसे तो कवि का साहित्य भरा है—उनसे भिन्न जीवधारियो पर, मृगो पर, पक्षियो पर, भौंरो पर।

साहित्य का निर्माण कवि की तीन सहज विधियो का परिचायक होता है। एक, जब वह प्रकृति को अपने से भिन्न प्रत्यक्ष देखता है, जैसे विद्यापति—

नव वृ दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल
नवल वस त नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल ।

दो, जब कवि पर उसका बहिरग हावी होता है जब उस बहिरग को सह और साध कर वह अपनी स्थिति को अभिव्यक्त करता है जैसे फिराक—

इक रात भारी है शमा पै जिस तरह
हमने तमाम उम्र गुज़ारी है इस तरह ?

तीन, जब कवि प्रकृति के साथ सर्वथा एकाकार हो जाता है जब उसके पात्रो का जीवन प्रकृति के अवयवो की अनुभूति बन जाता है और कवि द्वारा अभिसृष्ट मानव और प्रकृति एक दूसरे के प्रति सहज एकाग्रह प्रकट करते हैं, जैसे कालिदास के शाकुन्तल मे—

चूताना चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्व रज
स नद्ध यदपि स्थित कुरबक तत्कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलित गतेऽपि शिशिरे पुस्कोकिलाना रुत
शके सहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम् ॥

दुष्यन्त प्रिया से विरहित बैठा है काम अपने वसन्तादि सैनिको द्वारा उस पर आक्रमण करना चाहता है, पर उस अनुशय दु ख' से आविर्भूत मानव पर वे आक्रमण नही कर पाते, विरत हो जाते है, सहानुभूति की आर्द्रता उन्हें उसके प्रति अनुरक्त कर देती है—*आम बौरा चुके हैं पर मजरिया अपने कोठ म मकरन्द* बाँध नही पाती, पराग बरसा नही पाती, उसका सचार बरबस रोक लेती हैं क्योकि सामने मानव विमन व्याकुल बैठा है कुरबक अपनी कलियो का सभार लिये कब से खडा है, उसकी कलियाँ चिटक पडने के लिए खिन्न जान क लिए बचैन हैं, पर तर उन्ह सहसा रोक लेता है और व अपनी उसी कोरकावस्था म रुक जाती है क्योकि सहृदय मानव शकुन्तला का खोकर बेहाल पडा है, शिशिर क जात हो नरकोकिल गाकर वस त क आगमन की

सूचना दे देता है पर आज उसकी कूक नीरव है, शिशिर सिधारा और कण्ठ मे फूटने के लिए उसका रव आया भी पर उसने उस उचरती कूक को गले मे ही घोट दिया क्योंकि हिया का मारा मानव व्यथित है, फिर वसन्त कैसे आए, काम कैसे दुष्यन्त पर आक्रमण करे ? सो मदन भी भयातुर हो आक्रमण के लिए तरकश से आधा खीचा हुआ तीर तरकश को वापस लौटा देता है।

पशुओ, पक्षियो के प्रति मानव की ममता ही उन्हें उसके प्रति आकर्षण की डोर मे बाँध लाती है। मृग के लिए कुश का ग्रास स्वाभाविक है, पर जिसने उसे पुत्र बना कर पाला है, चुन कर कोमल कुशो का गस्सा हथेली स उसे दिया है अनवधानता स अनतिक्रम्य लोभ स जो उसने कुशो की नोक से तालु छील लिया है उस घाव का जब शकुन्तला इगुदी के तेल से भरती है तब पति-गृह जानेवाली उस जननीरूपिणी ऋषिकन्या की राह वह कैसे छोड दे, पग पग लग उसे क्यो न विरमा ले ?

> यस्य त्वया व्रणविरोपणमिगुदीना
> तैल न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्ध ।
> श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
> सोऽय न पुत्रकृतक पदवीं मृगस्ते ॥
>
> (शाकुतल ४ १३)

अरे जगल के बीज और दाने खिला-खिला कर, अजलि भर-भर नीवार के दानो से पार्वती न हरिणियो को इस तरह भरमा-परचा लिया था कि वे उसके पास जाते हिचकती नही थी और तब पर्वत की जाई वह उमा उनकी आँख पर अपनी आँखें रख उनकी छुटाई-बडाई नाप लेती, सखियो का कुतूहल आसमान चूमने लगता। भोली मुग्धा और भरमी हिरनी का यह कौतुक देख सखिया ठग जाती—

> अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्या हरिणा विशश्वसु ।
> यथा तदीयनयन कुतूहलात्पुर सखीनाममिमीत लोचने ॥
>
> (कुमारसभव ५ १५)

कुछ अजब नही कि नयनो की यह अभिराम प्रतियोगिता उमा और मृगियो मे कटुता उत्पन्न कर दे, इससे उसके सद्भाव के प्रति आश्वस्त होकर भी कवि उनके प्रति उसकी कृपा का आग्रह करता है—

> अपि प्रसन्न हरिरोषु ते मन करस्थदर्भप्रणयापहारिषु ।
> य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ।।
>
> (वही, ५, ३५)

पद्मनयने, तुम्हारे नयनो के समान ही इन हरिणो के नयन भी चचल हैं, उन्ही की चपल चारुता का वे भी अभिनय करते है तुम्हारे अपने आप खिलाते हाथ से कुशा छीन कर खा जाते है, इनसे खीझती तो नही ? तुम्हारे मदिर चचल नयनो की चारुता से इनके नयन जो होड करें, प्रतियोगिता भरी ढिठाई कर और ऊपर से तुम्हारे हाथ से कुशा छीन कर खा जायें तो तुम्हारा खीझ जाना सभव है, पर उनकी अधीरता से तुम कही झल्ला तो नही उठती ? स्वय तुम सयत तो रहती हो, उनसे स्निग्ध व्यवहार तो करती हो ?

मानव का मानवेतर प्राणी के प्रति यही प्यार उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया का मानव को धनी बनाता है। वह अब कभी अकेला नही रह पाता। राम को विरहावस्था मे, सीता की खोज मे भरमते उनके दु ख से कातर आहार से उदासीन हो दूर्वाकुरो का आहार बन्द कर लोचनो की पलकें दक्षिण दिशा की ओर चुपचाप उठा कर हरिणियाँ मार्ग का मर्म बताती थी, लका की दिशा की ओर सकेत करती थी—

> मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञ समबोधयन्माम् ।
> व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ।।
>
> (रघुवश, १३, २५)

सीता का परित्याग जितना उनके लिए दुखद है उतना ही वनवासी पशु-पक्षियो के लिए भी असह्य हो उठता है। महाकान्तार मे जानकी का विलाप जीवधारियो के हृदय को मथ देता है—

मोर नाचना विसार देते हैं, तरु फूलो के आँसू डालने लगते हैं, हरिणियाँ मुंह की अधकुचली दूब नीचे डाल देती हैं—

> नृत्य मयूरा कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्य ।
> तस्या प्रपन्ने समदु खभावमत्यन्तमासीद्रुदित वनेऽपि ॥
> (वही, १४, ६९)

मानव और मानवेतर जीवो का परस्पर अन्योन्याश्रित सबध होने से ही यह प्रतीति उत्पन्न होती है जिससे दोनो के वीच सद्-भावना का उदय होता है । कालिदास न केवल दोनों के इस पारस्परिक सम्वन्ध को आचरण मे अनिवार्य मानते है वल्कि अनेक वार तो पशु-पक्षियो के आचरण को मनुष्य के मनुष्य के प्रति आचरण का आदर्श घोषित करते है । यह स्थिति बार-बार उनके काव्यो मे चित्रित हुई है ।

शकुन्तला के चले जाने के वाद अपने उजडे मन को वसाने के लिए जो दुष्यन्त अनेक उपक्रम करता है उनमे एक चित्राकन है। चित्र वनाते हुए उसे एक असाधारण अभिप्राय (मोटिफ) की सज्ञा होती हैं—

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना ।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
> शृगे कृष्णमृगस्य वामनमन कण्डूयमाना मृगीम ॥
> (शाकु०, ६ १७)

ऐसा चित्र वनाऊँ, दुष्यन्त सोचता है, जिसकी अग्रभूमि म मालिनी की वह धारा हो जिसके नीर उसका प्यार पला था, जिसकी रेत के अचल म हसो के जोडे किलोल कर रहे हो, उसके दानो ओर पार्वती के पिता हिमालय की पर्वतमालाएँ दौडती चली गयी हो, हिरन जिस पर विराज रहे हो । फिर अपनी शाखाओ से तापसो के वसन लटकाए तरु के नीचे कुछ ऐसा रचना चाहता हू जिसमे अपने प्यारे काले मृग की छाँह वैठी मृगी उसकी सीग से अपना वायाँ नयन खुजा रही हो ।

कितनो मानस को विभोर कर दनेवाली कल्पना है दुष्यन्त की मनोवृत्ति के प्रतिकूल ! मृग का कठोरतम अग उसकी सीग होती है *मृगी की मृदुतम उसकी आख। अपने मर्मतम को अन्य के* कठोरतम की नोक पर न केवल रखना बल्कि उससे सुखमय व्यापार करना नि शेष विश्वास का परिचायक है। मृगी जानती है कि उसका प्रिय उसका अनन्य गोप्ता है, जिससे उसका अकल्याण कथमपि सभव नही। इससे वह अपनी आंख उसकी सीग पर रखकर खुजाती है। उसके विपरीत मानव दुष्यन्त का आचरण है—जहाँ रक्षा की आशा की थी वहा निष्कासन मिला ! मनुष्य राज को पशु से दाम्पत्य स्नेह प्रतीति सीखनी है !

दशरथ की आखेट चेष्टा मृगी की उत्सर्ग भावना ने कुंठित कर दी—

> लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभाव
> प्रक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम ।
> आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
> बाण कृपामृदुमना प्रतिसजहार ॥
> (रघु० ९ ५७)

विष्णु के से अमाघ धन्वी राजा ने कृष्णसार मृग को मारने के लिए जैसे ही बाण सधाना वैसे ही उसकी सहचरी मृगी प्रिय की रक्षा के हेतु प्राणोत्सर्ग करने बाण की राह म आ खडी हुई और प्रणय की पीडा जाननेवाले उस भावुक राजा को अपनी प्रिया की सहसा याद आ गयी और उस मृदुमना अहेरी ने कान तक खिचे धनुष *की प्रत्यचा से बाण उतार लिया !*

राजा न फिर फिर हिरनो को अपने तीरो का शिकार बनाना चाहा, फिर-फिर उसे अपना आवेग रोक आखेट से विरत हो जाना पडा। कारण कि उनकी हिरनिया क रिस भरे आकुल नयनो म उसे अपनी तरुणी प्रिया क चटुल नयन सहसा झलक पड, उनके नयनविभ्रम दृष्टिविलास उनकी गहराइयो मे आ चमके, कानो तक खिचा कामुक कार्य से विरत हो गया—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षो
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥

(वही, ५८)

पशुओ-पक्षियो के प्रति सद्भाव, मानव मे अपनी प्रिया के प्रति अधिकाधिक सौजन्य जगाता है, उनकी चेष्टाओ मे प्रणयिनी के विलास, विभ्रम प्रतिबिंबित हो उठते हैं। दूर तो दूर, नितान्त समीप अपने घोडे को बगल से उड कर निकल जाते हुए मयूरो तक पर राजा बाण नही छोड पाता क्योकि उनके रग-बिरगे रुचिर कलाप को देख उसे प्रिया के विविध रगो की फूलमालाओ मे गुँथे पर सयोग से शिथिल केशपाश की सहसा याद आ जाती है—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्त मयूर
न स रुचिरकलाप बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियाया ॥

(वही, ६७)

मृगो के प्रति कवि का उल्लास अनायास उसके काव्य मे छलक पडता है। जब पावस धरा को सीच देता है, उसकी छटा अनुपमेय कर देता है, जब उस पर बिल्लौर के-से घासो के अकुर छा जाते हैं, केलो के नए निकले पत्तो के भार से वह पुलक उठती हैं, बीरवहूटियो से उसके अग-प्रत्यग ढक चलते हैं, तब उन्मत्त नायिका-सी धरणी सज उठती है। और तभी चपल पद्म-नयनो से छविवान यश स आतुर हिरन ढेर-के-ढेर वनस्थली की वालुकामयी भूमि पर उमड पडते हैं और मन बेबस हो जाता है, बरबस उधर खिच जाता है—

विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननै-
र्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।

समाचिना संकतिनी वनस्थली
　　समुत्सुकत्व प्रकरोति चेतस ॥
　　　　(ऋतु०, २, ६)

हिरनो-हिरनियो के दलगत आचरण का चित्रण कवि असाधारण अभिराम करता है। उनका झुड सहसा सामने आ निकला है। हिरन और हिरनियाँ कुशाग्रो की फुनगियाँ चबाती आ रही हैं, मृगशावक अपने स्वभाव के आचरण मे उनकी गति रोक लेते हैं। राह मे चलते-चलते अक्सर वे अपनी माताओ क थनो मे मुँह मार लेते हैं जिससे मृगियो को ठमक जाना पडता है। दल का नेता गर्वीला कृष्णसार उनक आगे-आगे चलता है—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै
　　र्व्याहन्यमानहरिणीगमन पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुख मृगाणा
　　यूथ तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥
　　　　(रघु०, ६, ५५)

तभी अहेरी अश्व पर चढा सामने सहसा आ निकलता है, पर तीर तरकश से निकाल जैसे ही वह धनुष पर चढाता है, वैसे ही मृगो का वह दल बिखर जाता है, और तब उनके आकुल दृष्टिपातो से वह वन श्यामायमान हो उठता है, लगता है, जैसे वायु ने नील कमलो की आर्द्र पखुडियो को सहसा बिखेर दिया हो—

तत्प्रार्थित जवनवाजिगतेन राज्ञा
　　तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपक्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातं—
　　र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रै ॥
　　　　(वही, ५, ६)

कवि जैसे हिरनो मे मिलता है, उनकी विविध दशाओ का, अनुभूतियो का प्रत्यक्ष अकन करता है। उनके सदर्भ का एक अत्यन्त मार्मिक वर्णन कुमारसभव के तीसरे सर्ग में हुआ है—प्रियाल वृक्ष की मजरियो के मकरन्द से हवा बोझिल है। भौरो

की धूल चला कर हवा जैसे हिरनो को मारती है। उन बाणो की बौछार से पिट उलटे दौड़ते मृग अन्धे हो जाते हैं। उधर पवन से गिराये सूखे पत्तो स वनस्थली मर-मर कर रहा है। भौरा के रस से आखो के भरे हान से हिरन देख भी नही पाते, इधर-से-उधर भाग रहे हैं, कौन जाने वह मर-मर ध्वनि खूनो जानवर की ही हो—

मृगा प्रियालद्रुममजरीणा रज कर्णविघ्नितदृष्टिपाता ।
मदोद्धता प्रत्यनिल विचेरुवनस्थलीमर्मरपत्रमोक्षा ॥

(वहा ३१)

पशु मानवो क प्रकृति विलास का साहित्यदुर्लभ वर्णन कवि ने ऋतुसहार म किया है। ऋतुओ की विविध भाव भगिमाओ, उनके निरन्तर बदलत सदर्भो का इतना चैतन्य अकन अन्यत्र नही हुआ। ऋतुओ का जीवधारियो पर प्रभाव, अनेक बार स्वभाव-भिन्न प्रेरक सिद्ध होता है जब वे अपनी प्रकृत्यमैत्री तक भूल जाते हैं। गर्मी की मार से व्याकुल सिह न मृगो पर चोट करता है न भैंसो पर, मयूर के छत्र के नीचे साप बैठता है, साँप के छत्ते के छाँव म मेढक साँस लता है वनैल सुअर सूखे तालावो मे व्याकुल डोल रहे हैं।

वस्तुत कालिदास ने इतने अपनापे स सभी पशु पक्षियो का प्रकृत्याकन किया है कि यह कह सकना असम्भव है कि किन के साथ उसका विशेष मोह है। गजक्रीडा और अश्वसाधन, मृगया और मृग क प्रति राजाचरण क जिस निष्ठा और मोह से कवि ने चित्र खीचे हैं उसी निष्ठा और मोह से चमरियो और नन्दी के भी खीचे है, चातको-सारसो के भी। कोकिलाओ भ्रमरो का काप तो सस्कृत कवियो का समान रूप से अपना है। रघुवश (सर्ग २) मे मृगराज और नरराज का जो परस्पर आचरण है, साहित्य म वह एकाकी है, जैसे उसी प्रसग का गोचारण भी, गोसेवा का अनन्यसाधारण मानव व्रत भी।

और नन्दी क दायित्व का जो वर्णन कालिदास ने कुमार-

सभव (सर्ग ३) के शिव समाधि के प्रसग मे किया है वह सर्वथा मानवीय है। नन्दी समाधि के लताद्वार पर गुप्तकालीन सन्तरी की भाँति बाँई भुजा पर वेत्रदण्ड (कालिदास का स्वर्णदण्ड) टिकाए खडा है। कवि के वर्णनक्षेत्र मे आकर वह असामान्य मार्मिक आचरण करता है—होठो पर तर्जनी धरे सकेत स गणो को सावधान करता है—खबरदार, चुप हो जाओ, हिलो-डुलो नही, स्वामी समाधि मे हैं—

> लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्र ।
> मुखार्पितैकागुलिसज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥ (१४)

उस सकेत का परिणाम यह होता है कि सहसा वृक्षो तक का हिलना-डुलना बन्द हो जाता है, भ्रमर अपना सचार भूल फूलो मे जा छिपते हैं, पक्षधारी अचल हो जाते हैं, मृगो, पशुओ का सचरण बन्द हो जाता है, लगता है कि उस नन्दी की आज्ञा से वह समूचा वन चित्र मे अकित-सा निश्चल हो गया है—

> निष्कम्पवृक्ष निभृतद्विरेफ मूकाण्डज शान्तमृगप्रचारम् ।
> तच्छासनात्काननमेव सर्व चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥ (१५)

अन्य सस्कृत कवियो की ही भाँति कालिदास की कृतियो मे भी गज की शालीनता का उल्लेख बार-बार हुआ है, इस कवि ने स्वतन्त्र रूप स भी उसकी आचरण-गरिमा की प्रशसा की है। कवि कहता है कि राजा की ही भाँति गजराज अपने यूथ के गजो का नेतृत्व कर उन्हे स्वतत्र यथाभिलाप चरने को छोड स्वय घने घाम से तप शीतल छाँव मे विश्राम करता है—

> यूथानि सचार्य रविप्रतप्त
> शीत दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्र ॥

(शाकु०, ५, ५)

प्रात हाथियो के जगने की चेष्टाओ का वर्णन करता कवि कहता है—हाथी जागकर दोनो करवटें लेकर शय्या छोड चुके हैं और अब वे अपनी जजीरो को खीच-खीच कर बजा रहे हैं, उनके दाँतो पर जब बाल-सूर्य की अरुणाभ किरणें पडती हैं तब

वे कटे गेरु के पर्वत की सुन्दरता धारण करते हैं—

> शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
> स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
> येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगा-
> द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥
>
> (रघु० ५ ७२)

गजो की जलक्रीडा के अनेक वर्णन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास ने किये हैं। रघुवंश के सोलहवें सर्ग मे अयोध्या की राजलक्ष्मी कुशावती को राजधानी बनाकर राज करनेवाले कुश से जब उजडी नगरी की कथा कहती है, तब उदार कारुण्य का मार्मिक चित्र उभर आता है। वर्णन चित्र का ही है भित्तिचित्र, हथिनियो के संग गजो के वारिविहार का जिसमे पद्मवन से ढके सरोवर मे उतरते गजो का स्वागत हथिनियाँ कमल-दण्ड तोड-तोड उन्हे प्रदान कर करती हैं। गर्द से रंग उड जाने पर भी अंकनो मे इतनी शक्ति है कि सिंह उनसे अब भी भ्रमित हो उन्हें सजीव मान उन पर अपने नखो के अंकुश से चोट कर उनके मस्तक विदीर्ण कर देते हैं—

> चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
> नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ (१६, १६)

इस प्रकार के वारिविहार का एक चित्र अजन्ता की एक गुहा मे भी अंकित है, जिसमे हथिनी अपने गजराज को कमल-दण्ड प्रदान कर रही है। रघुवंश के १९वें सर्ग मे (११) कामुक राजा अग्निवर्ण के संदर्भ मे एक उपमा का उपयोग हुआ है जिसमे वह मधगन्ध से महमह पानभूमि मे वैसे ही प्रवेश करता है जैसे नलिनियो से भरे सरवर मे गजराज हथिनियो के साथ प्रवेश करता है। उसी प्रकार के जलविहार का वर्णन कुमार-संभव (३ ३७) मे हुआ है—

> ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः

हथिनी गजराज को मकरन्द बसे जल का पान कराती है। बड

स्नेह से पहले वह परागगन्धी जल अपनी सूँड मे लेती है फिर वह सम्मोहित जलासव वह अपने प्रिय के अन्तर मे उडेल देती है। कवि मानवेतर प्रसगो के वर्णनो मे भी मानव को नही भूल पाता, उसी के शिष्ट सस्कार मदिर आचरण का अनुसरण अन्य प्राणी भी करते हैं। गज की सूँड की याद कवि को बिसरती नही, प्रसगत लौट आती है। विद्याधरो की सुन्दरियाँ जब अपने प्रेमपत्र भोज-पत्रो पर लिखती है तब सिन्दूरादि से लिखे अक्षर हाथियो की सूँडो की बुन्दकियो से लगते हैं—भूर्जत्वच कुञ्जर-बिन्दुशोणा। पर सिंहो से गजो का प्रकृत वैर कवि के सस्कार मे भी पलता है, गजो के सहज बैरी सिंह उन्हे जब मारते हैं उनका रक्त सिंहो के पजो मे लग जाता है, साथ ही गजमोती भी मस्तक से टूट कर पजो मे अटक जाते हैं। हिमालय की उस राह पर निरन्तर बर्फ गिरती रहती है जिससे पजो का रक्त तो, जो सिंहो की गई राह बताता, धुल जाता है, पर रक्त की छाप की जगह छूटे गजमोती फिर भी सिंहो का पीछा करते किरातो को उनकी राह बताते हैं—

पद तुषारस्रुतिधौतरक्त यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलै केसरिणां किराता ॥

(कुमार० १, ६)

कालिदास के काव्यविन्यास मे अश्वो का समावेश गजो से कुछ कम अभिमत नही। अज को जगाने के लिए प्रभात काल। वैतालिक जैसे गजो के जगने का वर्णन करता है वैसे ही अश्वो का भी करता है—हे नलिनाक्ष, बडे-बडे खभो से बँधे ये वनायु देश के (अश्वो) तुम्हारे घोडे जागकर चाटने के लिए रखे सेंधे नमक के टुकडो को अपने मुँह की गरम साँस से मलिन कर रहे हैं—

दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्या।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहा ॥

(रघु०, ५, ७३)

सूर्य की गति अश्वो पर ही अवलंबित है, उन्हीं से जुते रथ पर दिनपति गगनपथ को लांघते हैं। सूर्य और उनके अश्व दोनों के लिए यह आकाशोल्लंघन नित्य का होकर भी कठिन कार्य है। सूर्य दिन के अंत मे शांति की स्वयं तो साँस लेते ही हैं, अपने घोड़ों का भार भी हल्का करते हैं। कान के चँवर से छूटी घोड़ों की आँखें मिचमिचा रही हैं, दिन भर कन्धों पर रखे जुए से उनके अयाल मसल गए हैं। गरदनें झुक गयी हैं, उन्हें विश्राम दे सूर्य अस्त हो जाता है—

सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ।
(कुमार०, ८ ४२)

कालिदास ने रथों मे जुते घोड़ों की दौड़ का अनुपमेय वर्णन किया है, चित्र नेत्रों के सामने आ खड़ा होता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के पहले अंक मे यह चित्र सुरक्षित है। सारथी घोड़ों की ओर संकेत करता राजा से कहता है—स्वामी, रास ढीली करते ही अपने आगे के शरीर को लम्बायमान कर सिर के तुर्रे को स्थिर कर, कानों को निष्कम्प उठाए ये घोड़े इतने वेग से भाग रहे हैं कि इनकी टापों से उठी धूल तक इनको नहीं छू पाती, लगता है जैसे ये सामने भागते लक्ष्य हिरन से दौड़ की तेज़ी में होड़ कर रहे हों—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥ (८)

घोड़ों की रेस देखनेवाले इस वर्णन की प्रत्यक्ष व्यंजना को विशेष समझेंगे। घोड़ों का शरीर तब कैसा लम्बा हो जाता है, गात के वेग से चँवर या कलँगियाँ बिलकुल स्थिर हो जाती हैं, कान ज़रा नहीं हिलते। यही स्थिति इन घोड़ों की भी है। इनके अत्यन्त वेग से भागने का परिणाम यह होता है कि जो वस्तुएँ

सामने नितान्त छोटी दिखाई देती है वे सहसा अत्यन्त बडी हो जाती हैं जो आधी से कटी लगती हैं वे यकायक जुड सी जाती हैं, जो स्वभाव से टेढी हैं, वे सीधी लगने लगती हैं। सच तो यह है कि रथधावन के वेग से न तो कोई वस्तु दूर दिखाई पडती है न पास—

> यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
> यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
> प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
> र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥ (६)

रथधावन का एक और वर्णन विक्रमोर्वशी मे हुआ है, घोडो से खिंचे जाते आकाशगामी रथ का। रथ के वेग से अश्वों द्वारा खिंचे जाने से मेघ चूर-चूर होकर धूल की तरह मार्ग मे उड जाते हैं पहियो के वेग से लगता है जैसे उनके अरो के बीच अनेकानेक अरे बनते चले जा रहे हैं। घोडो के सिर के चँवर उस दौड की तेजी से बिलकुल स्थिर हो गए हैं, *चित्रलिखित जैसे, वैसे ही ध्वजा का वस्त्र तेजी से ध्वजा की डंडी और अपने छोर के बीच कडा निश्चल तन गया है—*

> अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना
> श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
> चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
> यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्॥ (१,५)

वेग से रथ को आकाश मार्ग से लिये जाते दुष्यन्त के घोडो का वर्णन इसी शक्ति से कवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक मे भी किया है। आकाश से पृथ्वी की ओर उतरते समय पवन के तलो का लक्ष्य कर सारथी मातलि कहता है—

तीन धाराओंवाली गंगा की आकाशधारा इसी परिवह *पवन के साथ में बहती है। इसी मार्ग में उन नक्षत्रों की स्थिति* है जिनकी किरणो का फैलाना परिवह चलता है। इसी आकाश भूमि को हरिविक्रम वामन ने अपने द्वितीय पग से नाप दिया था।

आकाश के अनेक वायुतलो मे यह परिवह पवन का तल है। इसमे भागते रथ की गति जरा देखो—राजा देखता है, सकारता हुआ कहता है—सो तो प्रकट ही है क्योकि रथ की अराओ के बीच से चातक उडकर निकल जाते हैं, बिजली के चमकने से घोडे उस चमक से लिपट जाते है, पहियो की धुरी जलकणो से भीगी हुई है, रथ की राह भी उनसे सिंच सी गयी है—

> अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
> हरिभिरचिरभासा तेजसा चानुलिप्तैः ।
> गतमुपरि घनाना वारिगर्भोदराणां
> पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमि ॥ ७ ॥

कवि ने पशुओ के साथ ही ऋतुसहार मे ऋतुओ के निरन्तर बदलते जाते फिजां मे पक्षियो का वर्णन भी किया है। पर विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र मे जो उनका चित्रण ग्रीष्म के ताप के बीच किया है वह अनन्यसाधारण है—गर्मी से व्याकुल *मोर तरुमूल के जलभरे शीतल थले मे जा बैठता है, भौंरे* कनेर की कलियो के मुँह खोल उनमे रम जाने के उपक्रम करने लगे हैं, हस ने ताल के तपे जल का छोड नीर की कमलिनी की छाया म आश्रय किया है, और यह अभागा निदाघव्यथित थका उदास पजरबद्ध तोता अपने विलासकक्ष मे ही जल की रट लगाए हुए है। उसका बन्धन उसे लाचार कर रहा है, औरो की भांति वह ग्रीष्म के अनुकूल आश्रय भी नही खोज पाता—

> उष्णार्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
> निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्याशेरते षट्पदाः ।
> तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
> क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥
> (विक्रमो०, २, २२)

(मालविकाग्निमित्र २, १२ मे) तपती गर्मी मे पक्षियो की दशा दयनीय हो उठती है—बावलियो की नलिनियो के पत्रो की छाया म हस आँख मूँदे बैठे है, धूप से भवनो के तप जाने से

कबूतर छज्जो को छोड बठ है वारियन्त्र द्वारा फर्की जाती जल की बूँदो का प्यासा मोर उसके चक्कर काट रहा है, गर्मी की तपन सभी के लिए असह्य हो उठी है, क्योंकि सूर्य तप रहा है, उसने राजा के सभी गुण धारण कर लिये हैं, प्रखर ताप जिसका प्रधान गुण है—

पत्रच्छायासु हसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीना
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेपिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपापिपासु परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्र
सर्वैरुग्रं समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्ति ॥

चातको, हारिल (बलाका सारस) हसो, द्वन्द्वचर रथागो के प्रति भी कवि ने अपने स्नेह का सहज निर्झर खोल दिया है । *अत्यन्त मधुर वाणी मे वह मेघ को चातकों और हारिलो के सदर्भ मे सबोधित कर कहता है—*

मन्द मन्द नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वा
वामश्चाय नदति मधुर चातकस्ते सगन्ध ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला
सेविष्यन्ते नयनसुभग ख भवन्त बलाका ।

(पू० मघ १०)

अनुकूल पवन तुम्हे धीरे-धीरे प्रेरित करता है, तुम्हारी बायी ओर यह चातक मधुर गा रहा है, उधर तुम्हे गर्भाधान सुख का कारण मान वह हारिल मादाओ का दल पाँते बाँध नयनो के आकर्षण तुम्हारे साथ उड चलने को उद्यत है। चातक को सगन्ध, गर्वीला, कहा है कारण कि स्वाति से भिन्न जल उसके लिए तिरस्करणीय होता है, और बलाका-दर्शन ता आरम्भ के लिए शुभ शकुन ही माना जाता है ।

हस सस्कृत कवियो के प्रधान अभिमत आलेख्य हैं । नीरक्षीरविवेक के अतिरिक्त मधुर व्यजना मे भी उन्हे उनका *सान्निध्य उपलब्ध है।* कालिदास ने उनका प्रतीकजन्य और साधारण दोनो अर्थो मे उपयोग किया है । वर-वधू उनके जोडे

रूप से चित्रित विवाह-दुकूल (वस्त्र) धारण करते हैं (हंस-चिह्नदुकूलवान्) क्योंकि उनका परिणीत मिथुन का-सा युगल आचरण दाम्पत्य का प्रतीक है। उन्हें 'हंस-मिथुन' परम्परया कहते भी हैं। उन्हीं के पदांकों का मालिनीपुलिनों में निरूपण दुष्यन्त ने अपने आलेख्य का इष्ट माना है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हंसों का कालिदास ने विविध और अनन्त वर्णन किया है। कमल के डंठों का पाथेय लेकर वर्षाकाल में हंसों के मानसरोवर जाने की बात तो कवि ने पूर्वमेघ में लिखी ही है, राजहंसी का पवन द्वारा उठाई तरंग से एक कमल से दूसरे कमल की छाया में जैसे उद्वेलित ताल लहर पर सरकना भी मधुर अभिव्यक्त किया है—

समीरणोत्थेव तरंगलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्।
(रघु०, ६, २६)

वैसे तो कवि की कृतियों में प्रायः सर्वत्र हंसों का मधुर वर्णन हुआ है पर मेघदूत में तो वह विशेष बन पड़ा है। विक्रमोर्वशी में राजा के मन पर चोट करनेवाली अप्सरा की उपमा जो राजहंसी से कवि ने दी है वह व्यंजना और ध्वनि दोनों में अपूर्व है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरा-
त्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुरांगना कर्षति खण्डिताग्रा-
त्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ (१, २०)

राजा कहता है—यह अप्सरा (उर्वशी) गगन मार्ग से जाती हुई मेरे मन को बलात् शरीर से बाहर खींचे लिये जा रही है, वैसे ही जैसे राजहंसी कमल की टूटी डंडी से उसका सूत (तन्तु) खींचे लिये जाती है।

द्वन्द्वचर, पतत्री, रथांग आदि नामों से कालिदास ने जिन चकवा-चकवी के जोड़े को अभिहित किया है वे सदा से काव्य में प्रणय-प्रणयी के प्रतीक रहे हैं। कवि-परम्परा है कि दिन में वे

माथ रहते हैं पर सन्ध्या होते ही उन्हे एक-दूसरे से अलग हो जाना पडता है और तब वे एक दूसरे को पुकार-पुकार कातर होते हैं। उनका वियोग जितना दु खमय होता है सयोग उतना ही सुखमय, जो विरहित मानव प्रणयियो के विषाद का कारण बनता है। रघुवश के १३वें सर्ग मे उनके प्रसग से राम ने सीता से अपने विरह की कठोरता का वर्णन किया है। कहते हैं—यही, प्रिये तुम्हारे वियोग मे डोलता चकवा-चकवी को परस्पर कमल की केसर देते देखता था। उनका एक दूसरे के प्रति घना प्यार देख अपना विरह असाध्य हो उठता था, सोचने लगता था—काश कि तुम मेरे पास होती और हम भी पपा के पद्मो की सुरभि एक साथ भोग पाते—और बडी उत्कण्ठा से उन दिनो की आस लगा उठता जब तुम मेरे साथ होगी—

अत्राविमुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ (३१)

मानव प्रणय-प्रतीति को इस प्रकार अपने आचरण से शक्ति देनेवाले पक्षि-युगल के प्रति कवि अनायास कृपावान है। उसके प्रति उसके पात्र भी सहज सहवेदनशील हैं। हिमालय मे हिम की आँधी चलती है विशेषकर शीतकाल मे। उमा शीतकाल मे कठिन हिमपात सहती हिमजल मे खडी तप रही है, पर उसे वह असह्य नही मानती। असह्य उसे एक-दूसरे से विरहित चकवा-चकवी की एक-दूसरे के लिए कातर पुकार लगती है, और वह उनके प्रति कृपावती हो उठती है, उनके सुख के अर्थ यत्नवती होती है। वह भूल नही पाती कि स्वय उसका व्रत उसे शिव के लिए साधा जा रहा है जिसे उसने अपने लावण्य के अभिमान मे खो दिया था—प्रियेषु सौभाग्यफला उसकी चारुता प्रमाणित नही हो सकी थी—और उनकी परस्पर कातरता उसे अपने व्रत के प्रति सजग कर देती है—

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिला सहस्यरात्रीरुदवाससतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयो पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ (५, २६)

पक्षियों के एक-दूसरे को दम्पतिवत् चारा चुगाने की प्रवृत्ति सामान्य दर्शन की वस्तु है पर चकवा-चकवी का उस दिशा में प्रयास सर्वथा कालिदास का निजी है। दाम्पत्य की वैधता प्रकट करने के लिए वे चकवी को चकवे की 'जाया' (पत्नी) कहते हैं, गज की हथिनी से भिन्न, जो मात्र उसकी मादा होती है। गज यूथप होता है, अनेक हथिनियों के झुंड में एकाकी नर, जिसमें उसे अंग्रेज़ी में सांड की तरह 'बुल' कहते हैं, और उसके प्रति हथिनियों का व्यवहार प्रेयसियों का सा होता है, दे डालने का। पर चकवे-चकवी का परस्पर सम्बन्ध दाम्पत्य होता है, कमल नाल पहले स्वयं चखकर, उसका स्वाद जाँच कर तब चकवा उसे अपनी पत्नी को खिलाता है, उसे इस प्रकार आश्वस्त करता है—

अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथांगनामा ॥
(कुमार०, ३, ३७)

कबूतरों को ऊँची अटारियों पर मानव पड़ोस में बसना अच्छा लगता है, भवन की ओरियों में उनके चुपचाप सो जाने का उल्लेख कवि ने मेघदूत में किया है—सुप्तपारावतानाम्। कई बार तो खिड़की की जाली से निकले धूप के धुएँ में वे इस तरह मिल जाते हैं कि पहचान में भी नहीं आ पाते—

धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः। (विक्रमो०, ३, २)

पर कबूतरों से कहीं अधिक मानवोत्तर कवि ने मयूर को माना है। उसके नृत्य के अनेक वर्णन तो कवि ने किये ही हैं, उसके प्रति नागरिकों का विशेष प्रेम भी वह नहीं भूल पाता। प्रमदवनों (नज़रबागों) में मोर पालना साधारण व्यापार था। उनके लिए दण्डवत् निवास-स्थल बना लिया जाता था। कवि कहता है कि निशा काल मयूर अपनी वासयष्टियों पर निद्रा के वशीभूत हो रहे हैं, सो लगता है जैसे उन्हें वहाँ कोर कर मूर्त कर दिया गया है—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो ।

(वही)

वर्षा में मेघगर्जन से मदकर उनका पक्षमण्डल खोल नाच उठना तो कवि-चर्चा का सामान्य विषय है ही, कालिदास की नायिका यक्षिणी अपने विरह का एकाकी भरने के लिए स्वयं अपने पालतू मोर को नचाती है। उसकी बगीची में रक्ताशोक और बकुल के बीच उसके लिए वासयष्टि बनी है, बाँस की नयी कोंपल की आभावाली मणियों से जटित सोने की। ऊपर उसके स्फटिक की एक पटिया है जिस पर साँझ को वह मोर, मेघ का मित्र नीलकण्ठ, जा बैठता है और तब यक्ष की प्रिया यक्षी उसे बजते घुँघरुओं के कड़ोंवाले हाथों से ताल दे-देकर नित्य नचाती है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका कांचनी वासयष्टि-
मूंले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥

(उत्तरमेघ, १६)

पंजरस्थ शुक द्वारा प्रणयान्तर शीतल जल के लिए पुकार मचाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसके बोले हुए वाक्य के उच्चारण का प्रसंग भी कवि ने नहीं छोड़ा। आज का प्रातः जगाता हुआ वैतालिक जब विरुद पाठ करता है तब कहता है कि स्वामी को जगाने के लिए जिस गिरा का उच्चारण करता है उसे पिंजड़े का सुआ बार-बार दुहरा देता है—

अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मंजुवाक्पञ्जरस्थः॥

(रघु० ५. ७४)

और सारिका के अभिमत सौहार्द का प्रसंग भला कवि कैसे भूल पाता? उसके प्रति विरहिणी यक्षी का आचरण समीपस्थ मित्र का सा होता है। अपनी पालतू पिंजड़े की मधुरभाषिणी

सारिका से वह अपने विरह मे पूछती है क्यो रे 'रसिके', स्वामी को बिसार दिया, या उसकी याद कभी करती है, तू भी तो भला उसकी प्रिया थी ?—

कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति ॥

(उत्तरमेघ, २२)

पालतू पक्षी मानव परिवार के न केवल अलकार थे बल्कि उसका अग बन उसके सुख-दुख के साथी हो जाते थे ।

नर-कोयल काम के सेनानी वसन्त का सहचर है । मधुर आलाप करने मे स्वभावकुशल कोकिला को सुरत सबधी कर्तव्य मे स्वय मदन आदिष्ट करता है जिससे वह अपनी कूक द्वारा प्रेमियो को उनके सकेतस्थान बताने मे तत्पर हो जाय—

रतिदूतिपदेषु कोकिला मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् (कुमार०, ४, १६)

उसी आदेश का यह परिणाम होता है कि जब नर-कोकिल आम के बौर खा, स्वय बौराकर कषायकण्ठ हो जब कूकता है तब उसका कूकना रूठी कामिनियो के मानभजन के निमित्त कुशल काम-वचन बन जाता है । उसे मानिनियाँ तब कामदेव का आदेश मान अपना मान तज देती हैं—

चूताकुरास्वादकषायकण्ठ पुस्कोकिलो यन्मधुर चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्ष तदेव जात वचन स्मरस्य ॥

(वही, ३, ३२)

वसन्त म कोयल की कूक द्वारा मदन मानिनियो को सूचित करता है— मान तज दो, प्रणय-कलह से लाभ क्या ? गया हुआ रमणीय यौवन फिर लौटने का नही । और तब नारियाँ मान तज रमणशील हो जाती हैं—

त्यजत मानमल बत विग्रहैर्न पुनरेति गत चतुर वय ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजन ॥

(रघु०, ६, ४७)

वसन्तागम मे प्रण स उल्लसित आम की मजरियो की मदिरा से मदा नर-कोयल प्रिया का प्रगाढ चूमता है—

पुस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्त प्रिया चुम्बति रागहृष्ट
(ऋतु०, ६, १४)

ग्रौर उसके उस तरह चूमने का, उसके ग्रभिराम कूकने का, परिणाम यह होता है कि उसका कलकण्ठी उन्माद जादू बन कर दूसरे के सिर बोलने लगता है—पतिव्रता लज्जावती कुलवधुग्रो की भी परीक्षा हो ग्राती है, उनके विनीत हृदय भी क्षण भर के लिए व्याकुल हो उठते है—

पुस्कोकिलै कलवचोभिरुपात्तहर्षै
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृंगै ।
लज्जान्वित सविनय हृदय क्षणेन
पर्याकुल कुलगृहेऽपि कृत वधूनाम ॥
(वही, २१)

शिशिर के जाते ही ग्रनजाने नर-कोयल के कण्ठ से वसन्त की वाणी फूट पडती है। पर वसन्त के ग्राने की सूचना वह ग्रपनी टेर द्वारा जिस मनुष्य को देना चाहती है वही ग्रगर दु खी हो तो कण्ठ से फूटती कूक भी वह बरबस दबा लेता है—

कण्ठेषु स्खलिते गतेपि शिशिरे पुस्कोकिलानां रुतम् ।

भ्रमर ग्रौर कमल सस्कृत काव्य मे जैसे सर्वत्र उपलब्ध है, वैसे कालिदास के काव्य मे भी उपलब्ध हैं। पर कालिदास द्वारा उनका उपयोग ग्रसामान्य हुग्रा है। कमलवत् मुख, कर, पादादि की व्यजना होने से भ्रमर का मनुष्य से सानिध्य होता है। कालिदास ने जहाँ-जहाँ उपमाग्रो मे ग्रथवा ग्रन्यत्र भ्रमरो का उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इनके उल्लेख से उनका साहित्य भरा है, इससे तत्सम्बन्धी सारे स्थलो का सकेत तो नही किया जा सकता पर उनमे से कुछ का निर्देश यहाँ ग्ररुचिकर न होगा।

ऋतुसहार मे वर्षासम्बन्धी एक श्लोक (१४) है—

विपत्रपुष्पा नलिनीं समुत्सुका
विहाय भृंगा श्रुतिहारिनिस्वना ।

पतन्ति मूढा शिखिना प्रनृत्यता
कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥

यहा भ्रमरो के भ्रम का निरूपण हुआ है—अभिराम गुजारत उत्कण्ठित भ्रमर पत्तो से रहित नलिनी को छोड विभोर नाचत मोरो क पुच्छमण्डल को ही भ्रमवश नए कमल मान उस पर टूट पडते हैं। जब तब भ्रमर पर अभाग्य की छाया भी डोलती है। जब वह प्रात कालीन ओसभरे कुन्द क फूल के चारो ओर मंडराता रहता है तब वह न तो उसका रस ही चूस पाता है न उस छोडकर जा ही पाता है—

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषार, न च खलु परिभोक्तु नव शक्नोमि हातुम
(शाकु० ५ १६)

उपवन न अपने कुसुमो क सचित कोठ खो दिये, वायु पराग के कणो को अपने डैनो पर ले उडी भौंरे उनके पीछे इधर उधर उडन लगे। पराग एसा लगा जैस भौंरे का गोट लगा धनुधर मदन का अभिराम ध्वजपट हो जो लक्ष्मी क प्रमाधन का मुख चूर्ण उड चला हो—

ध्वजपट मदनस्य धनुभृतश्छविकर मुखचूर्णमृतुश्रिय
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजा सपवनोपवनोत्थितम वयु ॥
(रघु० ८ ०८)

कमल का भ्रमर से इतना अनुराग है कि सन्ध्या को बन्द होने की वेला आ जान पर भी वह अपना मुख थाडा क्षण भर खुला रख छोडता है जिसस बाहर भटक रहे भौंरे को वह प्रीति पूवक भीतर बुला सके—

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षण सावशेषविवर कुशेशयम् ।
षटपदाय वसति ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥
(कुमार० ८ ३६)

कमलदण्ड लिये विजय वजयन्ती फहराती-सी शिव क प्रति उमा अभियान करती है, लाल भरे होठो से निर तर उठती मधुर गन्ध पीने की इच्छा भ्रमर म क्षण क्षण बलवती होती जाती है। क्षण

क्षरण जैसे वह उनपर टूटता है क्षरण क्षरण उमा हाथ के कमलदण्ड से उसका निवारण करती है (लीलारविन्द गुप्तकालीन नारियो के मण्डन का एक अग था, उसे धारण कर वे बाहर निकलती थी) और उस क्रिया मे इधर-उधर उडते भ्रमर की गतिचारिणी उसकी डरी आँखें कही रुक नही पाती, जिससे उसका सहज चापल्य और भी बढ जाता है। उधर भ्रमर के लिए लीलारविन्द और उमा के अधर दोहरा आकर्षण प्रस्तुत कर देते है। जो निवारण के अर्थ प्रतिकार नियुक्त होता है वह लीलाकमल स्वय उसे आकृष्ट करता है, भ्रमर अपना इष्ट स्थिर न करके भी दोनो पर चोट करता ही जाता है। होठो पर भी, लीलारविन्द पर भी—

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्ण बिम्बाधरासन्नचर द्विरेफम्।
प्रतिक्षण सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥

(कुमार०, ३ ५६)

दीर्घ कटाक्षो की उपमा मधुकरमाला से दी गयी है। पूर्वमेघ मे जब वेश्याएँ मेघ को लम्बे-तिरछे देखती है, लगता है जैसे भौंरो की कतार उडी जा रही हो—

मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्

अन्यत्र कवि कहता है कि भ्रू विलास के समय जब बार-बार नेत्रो के सफेद कोए इधर-से-उधर और उधर-से-इधर चलते हैं, जैसे माघी जुही के फूल, और उनके साथ ही ऊपर की पलक उसी तीव्रता और क्रम से चलती है, जैसे भौंरे, तब लगता है जैसे जुही के फूल कोई इधर-से-उधर, उधर-से-इधर फेंकता जा रहा है और उनका पीछा करनेवाले काले भौंरे उन्ही के साथ उसी क्रम से इधर-से-उधर और उधर से-इधर उड रहे हैं—

पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम् (वही ४७)

वसन्त ने मदन के लिए बाण बनाया। पल्लवाकुरो से बाण का पिछला भाग, उसका पंख, बनाया, और आम के नये बौरो से

बाण का फल, फिर इस प्रकार बाण तैयार हो जाने पर बाण का स्वामित्व प्रकट करने के लिए उसने उसपर भौंरों की कतार बिठाकर मदन के नाम के अक्षर लिख दिये—

सद्य प्रवालोदगमचारुपत्रे नीते समाप्ति नवचूतबाण।
निवेशयामास मधुद्विरेफा नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥

(कुमार०, ३ २७)

वसन्त के आलम में मधुकर आपानक का पानरचना करता है। कुसुम रूपी एक ही चषक मधु (आसव) से भरता है, फिर पहले उसे अपनी प्रिया को पिलाकर पीछे उसका जूठा आप पीता है—

मधु द्विरेफ कुसमैकपात्र पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान ।

(वही, ३६)

फिर तो उस फिजां में अन्य जीव भी कोमल और मनभावन आचरण करने लग जाते हैं। इनमे प्रधान मृगदम्पति है— प्रिय के मृदुस्पर्श से जब मृगी के नयन अर्धनिमीलित हो जाते हैं तब कृष्णसार उस अपनी सीग मे खुजलाने लगता है—

शृगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसार ॥

(वही)

अन्त में कवि की एक उपमा दिये बगैर भ्रमराचरण का यह प्रसग समाप्त नहीं किया जा सकता। नारद की वीणा रो रही है—प्रसग निश्चय मृत्यु की भूमि का है इन्दुमती की मृत्यु की—कैसे ? गगनचारी नारद की वीणा से पुष्पमाला लटक रही है, भौंरे उसके नीचे मॅडरा रहे हैं। सहसा माला नीचे गिर जाती है, भौंरे वीणा से लगे ही रह जाते हैं। पुष्पमाला के इन्दुमती के हृदय पर गिरने से तत्काल उसका निधन हो जाता है, इससे जैसे वीणा रो पड़ती है, अजन लगी आँखो के रोने से काले आँसू जैसे भौंरो के रूप टपक पडते है—

भ्रमरै कुसुमानुसारिभि परिकीर्णा परिवादिनी मुने ।
ददृशे पवनावलेपज सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम ॥

(रघु० ८ ३५)

कालिदास का काव्य जीवन का सचायक, जीवन का ही अविरल प्रवाह प्रस्तुत करता है। मानव अमानव सभी जीव-धारी कवि के उदार आयाम मे अपना अपना भाग पाते है सभी सृष्टि के केन्द्र मानव के चहुँ ओर घूमते है, कवि अपनी अनन्त मानवीयता से सबको विदग्ध कर देता है प्राणातुर।

●

१२

कालिदास और मधुपान

●

मधुपान अथवा कादम्बरी सेवन मनुष्य की अनादि-प्रवाह प्रवृत्ति का परिचायक है। मद्यपान संस्कृति से कहीं प्राचीनतर है जो बर्बरता का अन्त हो जाने पर भी न चुक सका और स्वयं संस्कृति का असामान्य शृंगार बना। आज भी संसार की वन्य और संस्कृत सभी जातियाँ मधु का सेवन करती है। आर्यों और उनके देवताओं का तो यह परम पेय था ही जिसका परिणाम यह हुआ कि जब वैदिक धर्म को धर्म-सूत्रो और स्मृतियो के नये विधान के आधार पर फिर से प्रतिष्ठित किया गया तब मनु आदि धर्मशास्त्रियो और गीतादिको को मधुपान को 'युक्ताहारविहार' के संतुलित परिमाण मे उचित स्वीकार करना पड़ा। पीछे वज्रयानियो के तन्त्रयुगो मे तो उसका इतना अनियन्त्रित और उदार प्रचलन हुआ कि वह साधक और सिद्ध का प्राथमिक अनिवार्य संस्कार बन गया और सिद्धिदायक 'पचमकारो' मे उसकी गणना हुई। कालिदास ने मधुपान को जीवन और शिष्ट आचार का अनिवार्य अग माना है। उनके काव्यों में उसका अनन्त उल्लेख हुआ है।

उस महाकवि ने जीवन को अत्यन्त निकट से देखा था और उसने मधुपान को उस जीवन का मडन माना। उसके विष्णु और शिव तक इस पेय का आदर करते है। राम अयोध्या के

बाह्योद्यान म गर्भवती सीता का जब अनेक उपकरणों से मन बहलाते ह तब वहा की पानभूमि पर भी उनकी आँखें जा टिकती हैं जो 'चषकोत्तरा' हो गयी है जहा नागरिकों द्वारा पिय मधु के चषकों का अम्बार खडा हो गया है । और कवि के इष्टदेव शिव तो मधुपान म अपना सानी नही रखते विवाहोत्तर के अपने प्रणय प्रसग (हनीमून) म गन्धमादन का चोटी चोटी पार्वती के साथ रम मदिरा से छक-छक मदिर उल्लसित हो उस पवत का कण कण वास दत हैं । क्या आश्चय कि परिणामस्वरूप कैलास के उस पर्वत-प्रदश का नाम ही मदमस्त कर देनेवाल उत्कट गन्ध का वाहक पड गया हो । 'हेडी वाइन' का असर पाषाण को भी मद देता है ।

कवि क वर्णना से लगता है मद्यसवन तब के नागरिक का सामान्य आचरण था उसक नित्य नैमित्तिक जीवन का अविच्छिन्न अग । कभी कभी तो मद्यपान का मात्रा इतनी बढ जाती थी कि पाँव लडखडाने लगते थ बोली अटपटी हकला जाती थी (स्खल त्पदे प") नयनों क डोरे लाल हो जात, उनकी पुतलियाँ घूम जाती थी (घूर्णमान) । प्रमत्त कर दनेवाले मद्यपान का परिणाम यह होता ही था । कवि ने अपन पद पिबन्ति मद्य मदनीय मुत्तमम् म जो मदनीयता का साकेतिक उल्लेख किया है उसम व्यजना पान क परिणाम मे मदनान्मुख हो जाने की है जभी तो सकेतो क शालीन कवि न यक्षो द्वारा कल्पवृक्षा क 'रतिफल' नाम के मधु क सेवन का उल्लख किया है । सुराप्रधाना सुरागनाओ के उस दश म यक्षप्रधाना अलका म कल्पतरुओ के कुसुमा से ही तो मधु उतरेगा । फिर उन प्रसूनो म कुसुममधु से झरे फल की व्याख्या क्या होगी ? रति । कवि न उस मधु का, मदनीय मधु के फल का नाम ही रतिफल रख दिया है ।

शौण्डीगृह (शौण्डिकापण) राह की शराब की दूकान (शाकुतल पृ० १८८) में पीने का मजा बडा सीमित था जिमस सम्भ्रान्त नागरिक खुले म, आसमान क नीचे पानभूमिया का सयोजन किया करत थे—

रचितापानभूमयः (रघुवंश, ४, ४२)

इन्हीं आपानभूमियों (आपानकों) में पानगोष्ठियाँ हुआ करती थीं। और जब मर्यादाभिन्न राजा अग्निवर्ण की भाँति गुमराह हो जाता था तब अनेक प्रियाओं का वह सखा ऐसे आपानकों की रचना करता था जिनकी पानभूमि भोनी और उत्कट मधु-गन्ध से गमक उठती थी।

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचना प्रियासखः (वही, १९, ११)

ऐसी ही पानभूमि की रचना कर अभियानमुखी रघुसेना दक्षिण सागर की तटवर्ती उपत्यका में नारियल के रस से प्रस्तुत मधु का पान करती है—

नारिकेलासवं पपुः (वही, ४, ४२)

मधुपान की सार्वजनिक इच्छा का अनुमान तो मदिरा की विविधता और उसके विभिन्न नामों से भी किया जा सकता है। आसव, कादम्बरी, मदिरा, मधु, मद्य, वारुणी, शीधु आदि अनेक नामों से सुरा का उल्लेख कवि ने किया है। इनको तैयार करने के अनेक उपकरण थे जिनमें से कम-से-कम तीन प्रकारों का कवि द्वारा उल्लेख हुआ है। नारिकेलासव, पुष्पासव और शीधु का। जैसा नामों से स्पष्ट है, इनमें पहला नारियल के रस से बनता था, उसके फल के भीतर के रस से, यद्यपि ताड़ी का अर्थ भी शायद इससे वर्जित नहीं। दूसरा फूलों से खींचा जाता था। भ्रमरों का अनुसारी कुसुमसंचयी मानव भला फूलों के रस से विरहित क्यों कर रह पाता? जो रस भ्रमरों को गुंजायमान प्रमत्त कर देता है, जिससे वे कमल के सपुट हिये में, ऊपर मुख पर बैठ, कूज-कूज प्रिया की चाटुकारिता करने लगते है—

कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु—

जिस रसमंजरी को चूस नर-कोकिल कषायकण्ठ से गा-गाकर प्रमत्तराग हो मथकर प्रिया को चूम चलता है—

पुस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्त प्रिया चुम्बति रागहृष्ट --

वह पुष्पासव भला कलाविद मानव को विचल उन्मुक्त क्यो न कर दे ? यह आसव अधिकतर मधूक (महुए) पुष्प से तैयार होता था। शीधु ईख के रस स बनी शराब होती थी। और ऐसी मदिरा सम्भ्रान्त जन सुच्चा नहीं पीते थे पहले फूलो की गन्ध से उस बास लेते थे। आम की मजरियो या लाल पाटल से सुरा वासन की विधि थी—

सहकारमासव रक्तपाटलसमागम पपौ (रघु० १६ ४६)

इसस शिष्ट नागरिको क श्वास क दूषित होन का भय नही रहता था। वैसे आसव स दूषित सांसो को सुवासित करने का उपाय बिजौरा नीबू सुपारी, इलायची आदि साधारणत उपलब्ध थे जिनका उपयोग सार्वजनीन था, सद्य सर्वत्र प्राप्य।

आज की ही भाँति तब भी पुरानी शराब की बडी महिमा था। कवि को उसकी गन्ध भूलती नही—निदाघागम मे अर्जुन क श्वेत नए फूलो स झूम उठते है, उसकी परागद्योभिल मजरियाँ कुछ ऐसी लगती हैं जैसे कामदेव को भस्म कर चुकने पर भी कोप के आधिक्य से शिव न मदन क धनु की डोरी तोड दी हो और उनके कण उन वृक्षो पर व्यस्त हो गए हो। और जब, विशेषकर ग्रीष्म म, वसन्त क अभाव म, कामी नि सहाय हो उठत हैं, तब प्रकृति ही उन्हे ढाढस बँधाती है, अपने कुसुमो के आकर खोल उनका उद्दीपन करती है—सब चला गया पर आम के बौर, उनके कोमल पल्लव-खण्ड, फूलो से बसी ईख की पुरानी मदिरा, पाटल के टटके लाल फूल अब भी हवा पर हावी हैं। उनकी मयुक्त मधुर गध ग्रीष्म क सारे दोष हर कामियो की सारी कमी पूरी कर देती है—

मनोज्ञगन्ध सहकारभग पुराणशीधु नवपाटल च।
सबन्नता कामिजनेषु दोषा सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टा॥

इस बात पर आश्चर्य करना कुछ खास स्वाभाविक नही कि कालिदास के काव्यो में नारी के मधुपान का पुरुष के मद्यपान स

कही अधिक बार उल्लेख हुआ है। पुरुष को समूची भारतीय संस्कृति जीवन, और काव्य का भी, केन्द्र मानती है, जिससे स्वयं नारी और उसको आकर्षक बनानेवाले सारे साधन पुरुष के उद्दीपक हो जाते हैं। इससे जहाँ-जहाँ नर के रागबन्ध अथवा उसके विलास का वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ नारी के उद्दीपक मदिरायित आचरण का उल्लेख हुआ है। नर का मद्यसेवन तो इसी कारण गौण है, अनेक बार तो उस प्रसंग में इसका उल्लेख ही नही हुआ है।

कालिदास नारी के मधुपान से विशेष रतिलाभ करते से प्रतीत होते हैं। उसके मुख का वारुणी गन्ध तो अनेक बार वर्णन का, ऋतु के प्रसंग में अनिवार्य अंग बन गया है। शिशिर की शीत ऋतु में पान खाकर, कस्तूरी आदि से प्रस्तुत अंगराग लगाकर, पुष्पमालाएँ धारण कर, कालागुरु, धूपादि से केशों को वास और मधुर मधु पीकर उसका वास से मदिर मुखकमल वाली स्त्रियाँ बड़ी उत्कण्ठा से मानेवाले कमरे में प्रवेश करती हैं—

> गृहीततताम्बूलविलेपनस्रज
> सुखासवामोदितवक्त्रपंकजा ।
> प्रकामकालागुरुधूपवासित
> विशंति शय्यागृहमुत्सुका स्त्रिय ॥
>
> (ऋतु० ८, ५)

स्त्रियों के मुखों से वातायन भर गए। फिर तो उन मुखों और उनकी काली पलकोंवाली आँखों में ऐसा लगने लगा जैसे खिडकियाँ कमलों से भर गयी हैं और उन पर नयन रूपी भौंर मडरा रहे हैं। कुतूहलभरी नारियों के मुख और उनके चचल नयन! नि सदेह डठलो पर हिलते कमल और उन पर मँडराते भ्रमर! निश्चय उनके शराब पिये मुँह की मदिर गंध से आकृष्ट भौंरों का कमल की सुरभि न भायी, उसकी वास उनके मुखों मे ही समा गयी।

तासां मुखरासवगन्धगर्भं ।

फिर गर्मी के आलम के तो कहने ही क्या, जब सुगंधित जल से धोयी छत पर चांदनी चमक रही हो जब आधी रात के सूने मे मदन को जगा देनेवाली वीणा की ध्वनि पसर रही हो, और प्याली म ढाली हाला प्रिया के उच्छ्वास से थर-थर कांप रही हो—तब तो भवन की छत ही आपानक बन जाती है—

सुवासित हर्म्यतल मनोहर
प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पित मधु।
सुतन्त्रिगीत मदनस्य दीपन
शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिन ॥

(ऋतु० १,३)

नारियों द्वारा मुंह मे शराब का कुल्ला भर कर बकुल वृक्ष का दोहद सम्पन्न करना और परिणामस्वरूप बकुल का कलियां उठना प्राचीन कवि परम्परा है जिसका निर्वाह कालिदास ने भी किया है। उत्तर मेघदूत मे यक्ष कहता है—उस क्रीडा-पर्वत पर कुरबक की पत्रच्छाया तले माधवी मण्डप है, पास ही कोमल पत्तियोवाला चचल अशोक है वही कान्त केसर है, मनहर बकुल। दोहद के बहाने इनमे से एक मेरी प्रिया के बाएं पैर की कामना करता है दूसरा उनके मद्य के कुल्ले की—

एक सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरा दोहदच्छद्मनास्या ॥ (१५)

इसी प्रकार (रघुवश के नवें सर्ग मे) कान्ता के मुखासव (शराब के कुल्ले) से बकुल फूलता है (३०) और जब अग्निवर्ण अपनी प्रयसी वेश्याओ के मुख से अपने मुंह म भरपूर मद्य ले लेना है तब वह दोहद से सम्पन्न बकुल सा प्रफुल्लित हो उठता है। (वही, १६, १२)

कालिदास का ऋतुसहारी नववय वसन्त ऋतु म नारी के मदिरालस चचल नेत्रो म मदन का निवास मानता है (ऋतु०, ६, १०)। मदिरा का विलास, कवि की राय मे, नारियो को

अद्भुन सौन्दर्य से मडित कर देता है। उसका तनिक आधिक्य नवयौवनाओ और नववधुओं मे लज्जा का वन्ध खोल देता है जिससे प्रणयी और पति का विलास-प्रयास सफल हो जाता है। कवि रघुवश के नवें सर्ग में वसन्तागम के प्रसग में कहता है कि शिशिर के बीत जाने पर वसन्त लक्ष्मी ने जो पलाश को कलियों से भर दिया है तो लगता है जैसे मदात्यय (मदिरा के आधिक्य) से लज्जारहित हो प्रमदा ने प्रणयी के तन पर नखक्षत वना दिये हों—

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया॥ (३१)

मद्य का उपयोग किस प्रकार नारी को नर की प्रियतरा और उसके विलास मे सक्रिय सहायक वना देता है, इसका एक वर्णन इस प्रकार है—मधु स्मरसखा है, काम का सहचर, कामोद्दीपक, मधुर विलास का संघटयिता, सुरत क्रीडा के प्रवाह का अद्भुत प्रसारक (हाव-भाव को उकसानेवाला)। वकुल को भी अपनी गन्ध से हरा देनेवाले उस मद्य को जो, रस को खण्डित नही करता, उसकी धार वनाये रखता है, प्रमदाओं ने विना झिझक के पति के प्रणयानन्द मे वगैर वाधा डाले चुपचाप पी लिया—

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम्॥
(वही, ३६)

कालिदास के विचार से भौंह-सचालन की मदभरी प्रक्रिया मधु सेवन से ही सिद्ध होती है, जिससे उसके अभाव में यक्षी भ्रू विलास भूल जाती है (उत्तर मेघ, ३२)।

मदात्यय से वढे सौन्दर्य का उल्लेख कालिदास की विशद भारती मे अनेक वार हुआ है। कुमारसभव (३, ३८) में कवि कहता है—पसीने की वूंदो से किन्नरियो के कपोलो के चित्रलेख कुछ पुत गये, फूलो की शराव पीने से, शराव की मात्रा कुछ

अधिक हो जाने से पुतलियों के घूम जाने से खुमारी छा गयी, बोझिल पलकें अलसा उठीं—जिससे मुख की शोभा और बढ़ गयी, फिर तो उनके प्रणयी किन्नर (किम्पुरुष) अपने को और न सम्हाल सके, उन्होंने गीत के बीच में ही झपट कर अपनी प्रियाओं के मुख चूम लिये—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥

पार्वती के मद कुछ अधिक पी लेने से नयनों की पुतलियाँ घूम जाती हैं, आँखें कुछ बढ़ जाती हैं बातें साफ नहीं निकल पाती, चेहरे पर पसीने की बूंदें झलक जाती हैं उस पर हल्की मुसकान छा जाती है। फिर ऐसे प्यारे मुँह को शिव मुँह से तो पीते ही हैं, आँखों से भी देर तक पीते रहते हैं—

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥

(वही ८, ८०)

मद्य द्वारा नारी को इस स्थिति में सौन्दर्य की इस विजयिनी-विजितावस्था में पहुँचा देनेवाला मदन जब शिव के कोप से भस्मीभूत हो जाता है तब उसकी प्रिया रति उचित ही विलाप करती है—कभी कभी समय पर जब मदिरा के प्रभाव से लाल नयनों का घुमाना, बोलते-बोलते शब्द-शब्द पर लड़खड़ा जाना चलते-चलते पैरों को ठाँव-कुठाँव डालने लगना, मदमस्त नारियों के लिए तुम्हारे रहते तो कुछ अर्थ रखते थे, पर वे ही अब तुम्हारे बिना व्यर्थ हो गए हैं (रतिफल मधु के अभाव में), विडम्बना मात्र बन गये हैं। वह वारुणीमद कैसा जो शरीर और वाणी को अस्थिर तो कर दे पर अपना परिणति—कामाभिवृत्ति—में चूक जाय, अपूर्ण रह जाय?—

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥

(वही ४ १२)

मालविकाग्निमित्र (पृ० ४६) मे अग्निमित्र की रानी इरावती इस कदर पी लेती है कि उसके चरण ठीक-ठीक धरती पर नही पडते—ण मे वलणा अण्णदो पवट्टन्ति। मदो मं विआरेदि। उसी नाटक में मद्यविकार का उपाय मत्स्यण्डिका नाम की एक प्रकार की चीनी का सेवन वताया गया है (पृ० ४२) जो शराव अधिक पी लेने की औषधि के रूप मे 'मदात्ययचिकित्सा' आदि निदान प्रकरणों के अनुकूल है।

कालिदास के काव्य मे जो समाज प्रतिविम्बित है उसमे, लगता है, मधुपान सामान्य आचार था। कवि के दाम्पत्य विलाप का यह प्राय प्रथम प्रसग होता था। उसके उदाहरणो से प्रकट है कि नववधू की लज्जा दूर कर उसके साथ निर्वाध रमण करने मे मद्य विशेप सहायक होता था। दाम्पत्य के आदि प्रतीक स्वय शिव-पार्वती का गन्धमादन विलास, जो कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग मे विशद वर्णित है, इस दिशा मे प्रमाण है। पार्वती की लज्जा निःसन्देह उनके रमण मे वाधक है, इससे गन्धमादन का देवता स्वय सूर्यकान्तमणि के लाल मधुपात्र मे कल्पवृक्ष के फूलो से प्रस्तुत मधु (मद्य) लेकर पार्वती को पिलाने के लिए उपस्थित होता है (५७)। तव 'अनगदीपन' उस मधु को शिव भी पीते है, अम्बिका को भी पिलाते है (७७) और उसे पीने का जो परिणाम होता है, उससे जो शरीर-व्यापार मे विक्रिया आ जाती है उससे शिव का लाभ होता है (७८)—पार्वती लज्जा छोड दोनो के वश मे सहसा चली जाती है, मद्य के भी, शिव के भी (७६)। और इसके वाद के प्रकरण मे शायद वह स्थिति आ जाती थी जिसमे पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे को अपने मुंह मे रखी मदिरा पिलाते है। राजा अग्निवर्ण के मद्य-विलास का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसी के पूर्वज अज के विलाप मे भी सिद्ध है कि किस प्रकार वे अपनी पत्नी इन्दुमती के मुंह से अपने मुंह मे शराव ले लेते थे और अपने मुंह को उसे पिलाते थे—मदिराक्षि मदाननार्पित मधु पीत्वा (रघु०,८, ६८)।

अधिक हो जाने से ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हथिनी अपने प्रिय गजराज को पंकजरज से सुवासित जल को थोडी देर मुंह मे रखकर सूंड से पिलाती है—

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजल करेणुः

जैसे आधा लाया हुआ कमलदण्ड चकवा अपनी प्रिया चकवी को खिलता है—

अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथांगनामा

(कुमार०, ३, ३७)

ठीक उसी प्रकार जैसे भ्रमर कुसुम के एक ही पात्र में मधु ढाल पहले प्रिया भ्रमरी को पिलाता है, फिर पीछे उसी मे जूठा आप पीता है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः,

और जब प्राणि मात्र के जोडो का यह हाल है तब मधु के निर्माता स्वय मानव दम्पति का क्यो न हो !

●

२३

ऋतुसंहार की भावभूमि

ऋतुसंहार की भावभूमि उसकी ऋतुभूमि है। संसार के कवियों में मूर्धन्य कालिदास के दूसरे प्रौढ काव्यों की तुलना मे नि.सन्देह ऋतुसहार नितान्त गौण है, सस्कृत के ही अन्य कवियों की कृतियो से कहीं घटिया। इसीसे कुछ विद्वानों ने उसके कालिदास की कृति होने मे भी सन्देह किया है, यद्यपि सन्देह करने के लिए विशेष स्थान है नही। कारण कि पहले तो इस कवि की अन्य कृतियो के और इसके पदविन्यास मे पर्याप्त समता है, दूसरे इससे भी कि सभी कवियो के रचनाक्रम से उनका विकास होता है, कालिदास का भी विकास हुआ है, जिससे *ऋतुसहार को कुमारसभव या शाकुन्तल के साथ समभूमि पर रखना* समीचीन नही। फिर अमरटीकाकार मल्लिनाथ ने—जिसने 'नामूल लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते—लिखकर अपनी विवेक बुद्धि का परिचय दिया है, उसपर टीका लिखी है, जिससे उसका प्रामाणिक होना सिद्ध है।

फिर एक असाधारण बात ऋतुसंहार के सबध मे उल्लेखनीय यह है कि कालिदास के पहले न केवल भारत के वल्कि ससार के किसी साहित्यिक कवि ने मात्र ऋतुओ पर एक समूचा काव्य नही लिखा। प्रकृति विलास तो एकान्त भारतीय है और

कालिदास से पूर्व के बाल्मीकि आदि अनेक कवियो ने अपने काव्यो मे प्रकृति का उल्लसित वर्णन किया है, कालिदासोत्तर काल के कवियो का तो उनकी परम्परा मे लिखना प्रमाण ही बन गया है, पर कालिदास से पहले किसी भारतीय कवि ने भी मात्र प्रकृति के भाव-विलास पर कविता नही की थी। उस दिशा मे कालिदास आदिकवि थे।

छहो—ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त—ऋतुओ का एकत्र और केवल उन्ही का वर्णन निश्चय असामान्य प्रतिभा की सूझ थी। और यह तथ्य हाते हुए भी कि कवि की अन्य रचनाओ म आये समानान्तर ऋतुप्रसग ऋतुसहार के समान प्रसगो से शक्ति और भावो की शुद्धता मे कही आदय है, ऋतुओ के मात्र और एकत्र वर्णन कवि-कार्य की प्रखरता को प्रमाणित कर देता है।

साधारण दृष्टिगम्य प्रकृति पर काव्यविन्यास के सदर्भ म लिखना एक बात है—यद्यपि वह स्तुत्य नि सन्देह हो सकती है—केवल प्रकृति को ही आलेख्य-केन्द्र मान उस पर लिखना बिलकुल दूसरी। ऋतुओ का वर्णन उनकी प्रकृति (स्वभाव) की चिरसज्ञा की अपेक्षा करता है। सर्ग-सर्ग मे न केवल प्रवृति कारण, उसका वातावरण, शीतोष्ण परिवेश बदलता जाता है बल्कि उसके पशु-पक्षियो-पक्षधारियो, तृण-पल्लवो, तरु कुसुमो की प्रवृत्ति, प्रकार, उदय-अन्त सभी मे ऋतु के साथ ही परिवर्तन होता जाता है उनक द्रष्टा मनुष्य की अनुभूति मे तो पडता ही जाता है। उस दृष्टि की शक्ति को निभा जाना बडे-से-बडे कवि के लिए भी स्तुत्य है।

कालिदास न न केवल ऋतुओ के निरन्तर बदलते जाते वैभव को देखा और उसका वर्णन किया है, बल्कि मानव प्रकृति के ऊपर उसके प्रभाव का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। फिर केवल मनुष्य ही नही, सारा चराचर अपनी विभिन्न प्रवृत्तियो के साथ उनकी रचना के आयाम मे प्रवेश पाता है। प्रत्येक जीव

पर, पर्वत-जलधाराओं पर, दृश्य और अव्यक्त जगत् पर नये वातावरण का प्रभाव पड़ता है, उन सब की सज्ञा मेधा मे एकस्थ रखना आसान नही। प्रत्येक ऋतु के पक्षी भिन्न होते हैं, तरु-लताएँ भिन्न होती हैं, उनके फूलने-फलने के समय भिन्न होते है। उन सबको ऋतु-विशेष मे सयुक्त करना कठिन कार्य है। कालिदास ने अपने उस अनन्त और सूक्ष्म ज्ञान-सचय का लाभ ऋतुसंहार के माध्यम से अपने पाठकों को कराया है। अनेक लोगो ने सीधे प्रकृति के दर्शन से नही ऋतुसहार के माध्यम से ही, कौन कुसुम निश्चय किस ऋतु का दान है (इस बहुउपेक्षित काव्य से ही), सीखा है। केवल उस प्राय सवा सौ छन्दों के छः सर्गों से ही भारतीय तरु-लताओं और पुष्पों के अनन्त आकर पर समूचा ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

ऋतुसंहार की निसर्ग सम्पदा तो बडी है ही, उसके सामाजिक, सास्कृतिक ससार का भी परिवेश बडा है। नागरिक-नागरिकाओं के दैनन्दिन प्रसाधनादि का सैद्धान्तिक वर्णन तो वात्स्यायन ने कामसूत्रों मे किया है पर उनको प्रयोगप्रधानता, जीवन मे उनके उपयोग द्वारा, कालिदास ने ही ऋतुसहार मे प्रकट की है। यह काव्य कवि-कौतुक है। इसमें सिद्धान्त के भारी-भरकम पक्ष नहीं सिद्ध किये गये, हल्के-फुलके माहौल मे मानव अपनी भौतिक-पार्थिव सजीवता मे प्राणवान् हो यथेच्छ विहरता है, न उसमे वर्ग है, न वर्ण है। पहली बार, बस एक ही काव्य मे कालिदास का वर्णाश्रम सकोच मुखरता ही हुआ है। ऋतुसहार का मानव मात्रमानव है। न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रः—न ऊँच है न नीच, सर्वत्र निर्बन्ध विचरण करने-वाला प्राणी है।

पर इससे भिन्न ऋतुसहार का काव्य भी कुछ असुन्दर नही है। उसका छन्द, उसकी भाषा, उसका प्रबन्ध ऐसा है जो आलेख्य भावो की सूक्ष्मता और वर्णन के भार का वहन आसानी से कर सकता है। उसकी पदावलि कोमल है, उसकी शैली ललित

और वृत्ति अधिकतर वैदर्भी है । सरल छोटे-छोटे शब्दो मे विषय जैसे अनावश्यक को तजकर छनकर प्रस्तुत होता है । नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं जिनसे इस काव्य के प्रवाह और इसकी वर्णन-शक्ति का कुछ प्रमाण मिलेगा ।

प्रसाद गुण और वैदर्भी वृत्ति का एक उदाहरण यह है—

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषिता
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमा ।
विलोक्य नून भृशमुत्सुकश्चिर
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥ (१, ९)

रात मे धवल प्रासादो की खुली छतो पर निद्राभिभूत नारियो के अभिराम मुखो को चन्द्रमा चिरकाल तक उत्कठित निहारता रात्रि के अवसान मे लज्जा से पीला पडे जाता है । छन्द का लालित्य कितना स्पृहणीय है, कहना न होगा ।

गर्मियो मे पहाडो पर दावाग्नि वहुत लगती है । उसे प्रवल पवन प्रेरित करता है और कान्तार का कान्तार भस्म हो जाता है । ऐसी ही एक दावाग्नि का वर्णन कवि करता है—

विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा
प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम् ।
तटविटपलताग्रालिगनव्याकुलेन
दिशि दिशि परिदग्धा भूमय पावकेन ॥ (१, २४)

टटके खिले कुसुम की सिन्दूरी आभा लिये, तेज चलते प्रवल पवन से प्रचालित, तीर के तरुलताग्रो को अपने आलिगन मे वांधने को आकुल पावक (अग्नि) ने प्रत्येक दिशा की भूमि जला डाली है । पवन और पावक का वेगवान सानिध्य होने से कवि ने यहां अनुकूल समस्त पदो का उपयोग किया है । पर पावक जव उछल-उछलकर अपनी लपटो द्वारा वस्तुओ को जलाने लगता है तव उसके प्रसार मे एक लय वँध जाती है । एक के वाद एक वस्तु को पकडने मे अग्नि को तव नटवत् लघु पदो से सरकना होता है । आगे का श्लोक उसी का परिचायक है—

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु ।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥ (२५)

पवन के योग से बढ़ता हुआ दावानल पर्वतों की कन्दराओं में जल रहा है। सूखे बाँसों की स्थलियों में फट-फट की आवाज़ करती दावाग्नि रह-रह कर भड़क उठती है, फिर क्षण भर में ही वह तृणों के जंगल में पसर चलती है, उसे साफ़ कर देती है, और सहसा वन के किनारे लगे मृगों के समूह को व्याकुल कर देती है।

बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु
स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृक्षा-
न्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥ (२६)

वही अग्नि सेमल के वनों में फैल कर और भी भयंकर रूप धारण कर लेती है। उन विशाल वृक्षों के कोटरों में कंचन वर्ण की उसकी लपटें ललक-ललक कर लपकती हैं और पवन द्वारा प्रबल प्रेरित वह अग्नि विशाल वृक्षों को उनकी पकी पत्तियों और डालियों समेत गिराती वन में चारों ओर पागल-सी घूम रही है। पशुओं की स्थिति करुण है—

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहाः
सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षा-
द्विपुलपुलिनदेशान्निम्नगां संविशन्ति ॥ (२७)

समान विपत्ति में शिकार पशु फिर तो प्रकृत्यमैत्री भूल जाते हैं। अग्नि से जलते परस्पर वैरभाव भूल गज, नीलगाय, और सिंह मित्रभाव धारण कर उस जलाती अग्नि से त्राण पाने के लिए गिरि-गह्वरों से निकल शीघ्र नदी तट की फैली बालुका-भूमि में एक साथ शरण लेते हैं।

स्वय कालिदास की कृतियो मे भी कही दावाग्नि का ऐमा प्रखर वर्णन नही हुआ है। और इस दावाग्नि मे, उसके सताप मे त्राण पाने के लिए, वडी चतुराई से अगले ही श्लोक मे, कवि उस प्रान्त के मानव निवासियों को छत की चाँदनी मे शरण लेने की सलाह देता है—

> कमलवनचिताम्बु पाटलामोदरम्य
> सुखसलिलनिषेक. सेव्यचन्द्रांशुहार ।
> व्रजतु तव निदाघ कामिनीभि. समेतो
> निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥ (२८)

हे सुललितगीते, कमलो के वन से व्याप्त जल जिसमे प्रिय होता है, पाटल पुष्पो की गन्ध जिसमे रमणीय होती है, जिस काल जल से स्नान सुखकर लगता है, चन्द्र-किरणे और कुसुम-मालाएँ इष्ट होती हैं, उस निदाघ काल की रात्रि मे भवन की छत पर (चाँदनी) होती है, उस निदाघ काल को रात्रि मे भवन की छत पर (चाँदनी मे) कामिनियो सहित रमण करते सुखपूर्वक बिताओ (भोगो)।

वर्षाकाल अपने हजार गुणो से रमणीय होता है, कामिनियो का चित्त अपनी रमणीयता से हर लेता है, तरु-शाखाओ और लताओ का तो वह निर्विकार मित्र है, स्वार्थरहित मात्र उपकारी, जीवधारियो के लिए तो सर्वथा जीवनस्वरूप ही है—ऐसा वर्षाकाल तुम्हारी इष्ट कामनाओ को पूरा करे! इस आशीर्वचन को मूल मे पढें—

> बहुगुणरमणीय कामिनीचित्तहारी
> तरुविटपलताना बान्धवो निर्विकार. ।
> जलदसमय एष प्राणिना प्राणभूतो
> दिशतु तव हितानि प्रायशो वाछितानि ॥ (२, २८)

वैसे तो सारा चराचर वसन्त द्वारा प्रभावित होता है, कालिदास को भी वह प्रिय है, परन्तु ऋतुविशेष के साथ उनका मोह या पक्षपात नही। प्रत्येक ऋतु की विशिष्ट आढ्यता का

जलो पर स्वस्थ विराजते पक्षीदलो के कलरवो की अभिनव गूंज, छोरो पर फिरती मृगियो के कमलनयनो की शोभा उद्यानो को भर देती है, पुरुष का उदार भावुक कोमल मन सहसा उत्कण्ठित हो उठता है—

> शफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि
> स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
> पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि
> प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥ (३ १४)

शरत्काल डैनो पर कोई-कमलो की रज लिये शीतल वायु बहती है, घनो के अदृश्य हो जाने से दिशाएँ निर्मल कान्तिमयी हो उठती हैं, जलधाराएं-सरो का जल चमक उठता है धरित्री पङ्कहीन निष्कलुष हो जाती है आकाश विमल किरणोंवाले चन्द्रमा और सुन्दर तारिकाओ से विहँस उठता है—

> शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो वान्ति शीता
> विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञा ।
> विगतकलुषमम्भः श्यानपङ्का धरित्री
> विमलकिरणचन्द्रं व्योमताराविचित्रम्॥ (२२)

शरद् के बाद, क्वार कातिक बीतने पर, हेमन्त आता है, वातावरण समूचा बदल जाता है—अन्न के पौधे अकुरित हो जाने पर नये पल्लव धारण कर रमणीय हो जाते हैं, लोध्र फूल उठते हैं, शालि के धान पक जाते हैं, हिमपात होने लगता है, पाला पडने से पद्म विलीन हो जाते हैं सरो मे अदृश्य—जानो, कि अब हेमन्त आ गया है—

> नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः
> प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
> विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो
> हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥ (४ १)

फिर तो नारियाँ सुरतोत्सव के लिए सज उठी—जायक के अनुलेप से उन्होंने अपने गात लेपे मुखपद्मो को विशेषको (पत्र-

लेखो) से चमका दिया, कस्तूरिका पत्रावली उन पर सोहने लगी, कालागुरु के धुएँ से उन्होंने अपने केश वासे, मदन की ध्वजा फहरा उठी—

गात्राणि कालीयकचर्चितानि
सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि
कुर्वंति नार्यं सुरतोत्सवाय ॥ (१)

पद गेय है, मधुर और चित्रायित ।

शिशिर हेमन्त से परे है, इससे भिन्न, माघ-फागुन की ऋतु । शिशिर शरद् से बहुत दूर जा पहुँचा । शरद् मे चन्दन था, चन्द्र मरीचियाँ थी । वैसे ही हेमन्त मे तुषारशीतल बयार थी—अब वह बात न रही—जरा भाषा की रवानी पर गौर करें—

न चन्दन चन्द्रमरीचिशीतल
न हर्म्यपृष्ठ शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायव सान्द्रतुषारशीतला
जनस्य चित्त रमयन्ति साम्प्रतम् ॥

चन्द्रमा की किरणो-सा शीतल न तो चन्दन ही हेमन्त मे लोगो का मन मोहता है, न शरच्चन्द्र की चन्द्रिका से धोयी प्रसाद की छत ही मोहती है और नाहि घने पाले से शीतल बयार ही जनो का रजन करती है ।

वसन्त का सभार कवियो का प्यारा है, जगत् के जीवो का प्यारा । तब का ससार कितना कमनीय होता है—

द्रुमा सपुष्पा सलिल सपद्म
स्त्रिय सकामा पवन सुगन्धि ।
सुखा प्रदोषा दिवसाश्च रम्या
सर्वं प्रिये चारुतर वसन्ते ॥ (६२)

तरु फूलो मे लद गये हैं, जल पर कमल छा गये हैं, नारियो के अगो मे काम खेल रहा है, वायु गन्धवोभिल है, साँझें-रातें

सुखदायिका हो गयी है, दिवस रम्य। प्रिये, वसन्त ऋतु है, इसमें सभी चारुतर हो जाते है। कोई दो शब्द समस्त नही, एक-दूसरे से जुड़े नही, वैदर्भी का राज छन्द पर हावी है, भाषा एकान्त सरल है।

इस ऋतु सबधी श्लोक तो एक-से-एक मधुर है। यहाँ केवल कुछ का ही उल्लेख कर सकना संभव है। वसन्त का आगम चराचर को प्रमत्त कर देता है। कवि कहता है—नरकोकिल आम की मजरियों का रस पी मद से मत्त हो उठा है, राग से उन्मत्त हो वह प्रिया को चूमने लगा है। कमल के ऊपर बैठा कूजता यह भ्रमर भी प्रिया को रुचनेवाली वाणी में उसकी चाटुकारिता कर रहा है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन
मत्त प्रियां चुम्बति रागहृष्ट.।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रिय प्रियायाः प्रकरोति चाटु॥

अशोक वृक्षों की क्या स्थिति है? वे पल्लवों और मूंगिया रंग का कुसुम भार जड से चोटी तक धारे, देखते ही यौवनाओं के हिये मे हूक उठा देते है—

आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं
सपल्लवाः पुष्पचय दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम्॥ (६, १६)

और अब कवि एक भेद की बात भी कह जाता है—हर्षोन्मत्त हो मस्त कलकण्ठ से नरकोकिल जो कूक उठता है, भौंरे जो मधुर मदिरायित वाणी मे कूज उठते है तो असाधारण भी घट जाता है—कुलीन वहुओं के विनय से सधे लज्जाशील मन भी क्षणभर के लिए चलायमान आकुल हो उठते है—

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृंगैः।

लज्जान्वित सविनय हृदय क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥ (६, २१)

अन्त में कवि वसन्त संबंधी सर्ग और काव्य ऋतुसंहार को समाप्त करता गरिम शब्दों में वाचकों के शुभ की कामना कर विदा लेता है—

आम्रीमंजुलमंजरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशु सितम् ।
मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्वन्दिनो लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥ (२८)

आम की रुचिर मंजरियाँ जिसके तीखे बाण हैं, पलाश कुसुम जिसका अप्रतिम धनुष है, भौंरों की पाँत जिसके उस धनुष की डोरी है, चन्द्रमा जिसका निष्कलंक धवल छत्र है, मलयानिल जिसका मत्त गज है, यशगायक वैतालिक जिसके कोयल हैं, वही लोकजयी अनंग मदन वसन्त के साथ तुम्हारा कल्याण करें।

यह अभिराम श्लोक सत्काव्य के लिए चुनौती है, ऋतुसंहार के सौन्दर्य की ध्वजा।

२४

कालिदास और ललित कलाएँ

●

कालिदास का साहित्य परिणति का है। भाषा और साहित्य जब अपनी व्यजना और सवेदनशीलता मे पूर्णत प्रौढ हो चुके थे तब उस महामना कवि का आविर्भाव हुआ। देश तब गुप्तो के ऐश्वर्य की रक्षा मे मधुर और ललित को साध रहा था, ललित कलाएँ अपने विकास की चोटी चूम रही थी। तब भाव और भाषा के महत्व के झगडे न थे और रूप तथा सपाद्य का घना अन्योन्याश्रय था, दोनो एक दूसरे से नितात अभिन्न सपृक्त थे—वागर्थाविव सपृक्तौ।

कालिदास की भारती कितनी मुखर, कितनी स्वादु कितनी अर्थगभीर है इसकी विवेचना पिछले प्राय डेढ हजार वर्षों से होती आयी है हम यहाँ उनके काव्यो मे प्रसगत उल्लिखित ललित कलाओ की ओर सकेत करगे। स्वय कवि ने "प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ' मे ललित कलाओ की ओर निर्देश किया है यद्यपि उसके ललित पद से बोध इतना कलाओ के अतरग का पारिभाषिक रूप से नही होता जितना कला के लालित्य का। और कला उस सदर्भ मे सगीत को भी अपनी परिधि मे घेर लेती है। सगीत भी उसका विशिष्ट अग है और सगीत नर्तन गायन और वादन के त्रिपद पर प्रतिष्ठित होता है यद्यपि नाट्यगत

अभिनय भी उसमे समाहित होकर उसकी चतुष्पद सज्ञा सार्थक करता है। शुक्रनीति आदि मे परिगणित ६४ कलाओ की खुली चर्चा तो कालिदास मे नही है पर यदि प्रत्यक्ष और परोक्ष उल्लेखो और सकेतो मे खोजा जाय तो नि सदेह पारपरिक कलाओ पर महती सामग्री प्रस्तुत हो जायगी। स्वय कवि ने उसको विशेष महत्व नही दिया है और सुरुचि की मान्यताओ की परिधि मे आनेवाली ललित कलाओ का विशेषत उल्लेख किया है जिनमे सगीत और अभिनय भी सम्मिलित हैं।

यह सही है, खोजसम्मत भी है, कि सगीत का सैद्धातिक विकास और विवेचन विशेषत बाद की सदियो मे हुआ पर निश्चय गुप्त काल की समाकालीन पृष्ठभूमि मे भरत मुनि की परपरा के साथ ही सावधि चिंतन का भी योग था। 'मार्ग' अथवा शास्त्रीय पद्धति का अंतर अनिवार्यत स्पष्ट हो चुका था और यद्यपि राग-रागिनियो का स्पष्ट उल्लेख तो कवि ने नही किया है पर उसने "भूयो भूय स्वयमपि कृता मूर्च्छना" मे रियाज की परपरा को ध्वनित किया है। इसी प्रकार अपने ग्रथो के सैंकडो स्थलो पर जो दबे और खुले तरीको से उसने सगीत के विविध अवयवो का उल्लेख किया है उनसे भी इस कला की तत्कालीन समृद्धि पर प्रकाश पडता है। उस कला की पृष्ठभूमि पर अभिराम वीणावादक महाकाय स्वय समुद्रगुप्त खडा था जो उस काल की उस कलासाधना का मात्र प्रतीकत प्रतिनिधि था। 'मालविकाग्निमित्र' के अपने प्रथम, प्राय कमजोर पर साहसपूर्ण, प्रयास मे ही दो दो अको म सगीत और अभिनय पर जो कवि ने सिद्धातपरक लाक्षणिक कथोपकथन किया है उससे चाहे कृति की नाटकीयता मे रसभग हो आया हो नि सदेह उससे कला की पारपरिक चेतना का विकास स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। और जहाँ तक सगीत के नृत्य और नाट्य के अभिनय तथा शुद्ध ललित कलाओ के मूतन का एकस्थ सबध है वह तो निम्नलिखित छद से भी प्रकट है—

वाम सधिस्तिमितवलय न्यस्य हस्त नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृश स्रस्तमुक्त द्वितीयम् ।
पादागुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्ष
नृत्तादस्या स्थितमतितरा कान्तमृज्वायताधम् ॥
(मालविका० २ ६)

मालविका ने कटि पर अपना बाया हाथ टिका रखा है जिसका कडा हाथ के निश्चल पडे होने से निस्पद हो गया है, उसका दूसरा हाथ श्यामालता की शाखा की भाति ढीला लटक रहा है, पैर के अँगूठे से नीचे फर्श की पच्चीकारी पर पडे फूल को कुरेदते अँगूठे पर आँख गडाए हुए है। निश्चय उसकी यह स्थिति नृत्य और अभिनय कला की स्थिति से कही सुन्दर है विशेषकर इस कारण कि तन का ऊपरी भाग अब निरतर नर्तन मे गतिमान रहने के कारण अलक्ष्य नही ऊपर को सीधा खिचा और स्थिर होने के कारण लक्ष्य और दर्शनीय हो उठा है।

मूक नृत्य में जो मुद्राओ द्वारा अगागो की भावव्यजना थी उसमे सगीत का नर्तन और नाटय का अभिनय दोनो समाहित थे। 'मुद्राएँ' मूर्तिकला के प्रतीको को भी उद्‌भासित करती थी। मथुरा के सग्रहालय मे रखी शुगकालीन पत्थर की एक खडी नारीमूर्ति कालिदास के छद की विविध भगिमाओ का प्रदशन करती है। लगता है जैसे वह मूर्ति देखकर सहसा कवि की कल्पना जाग्रत हो उठी है और उसने ऐसा छद रच दिया है जो यदि मथुरावाली मूर्ति के नीचे लिख दिया जाय तो मूर्ति और छद जैसे एक-दूसरे पर आश्रित सार्थक हो उठें। इस प्रकार की अनेक यक्षी मूर्तियाँ कालिदास के पहले शुगकाल से कुषाण काल तक की तीन सदियो मे निरतर कोरी गयी थी और नि सन्देह उनकी व्यजना कवि की लेखनी मे जा बसी थी।

रागो और रागिनियो का कालिदास द्वारा विशेष उल्लेख न होने से उनकी ओर सकेत मात्र किया जा सकता है। 'विक्रमोर्वशी' मे कवि ने अनेक अपभ्र श गेय पदो का प्रयोग किया है। (इन्हे

एक पारपरिक भ्रम-दोष के कारण प्रामाणिक न मानकर कुछ लोगो ने प्रक्षिप्त माना है, केवल इस आधार पर कि अपभ्रंश प्राकृतो और प्रान्तीय जन-बोलियो के बीच का भाषागत व्यवधान है। हिंदी मे तो यह दृष्टि विशेष बल पा गयी है, यद्यपि इसे मान्यता देने का कोई तर्कसम्मत कारण नही। कारण कि जैसे प्राकृतें जनबोलियाँ होकर भी प्राय सदा से साहित्य की प्रौढ भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती रही हैं, अपभ्रंश भी, जनबोली होने के बावजूद, प्रौढ साहित्यिक भाषा रही है, स्वय एक प्रकार की प्राकृत। और जैसे प्राकृतें सस्कृत के व्याकरण द्वारा समत भाषा न होने के कारण, यद्यपि उनके अपने व्याकरण हैं, अनेक बार सस्कृत से पूर्ववर्ती जनबोली मानी जाती हैं पर उनका उपयोग सस्कृत के समानातर और उसके साथ-साथ सदा हुआ है, कोई कारण नही कि अपभ्रंश को हम 'अपभ्रष्ट' मानकर, प्राकृतो का तद्भव मानकर, उनका परवर्ती मानें और उनके लिए भाषा के विकास म एक विशेष युग की स्थापना करें। उसे अपभ्रष्ट अथवा तद्भव मानने से ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ है वरना उसको प्राकृतो का एक रूप मानते ही उस स्थिति की भी कठिनाई लुप्त हो जाती है जिसमे सस्कृत और अपभ्रंश का साथ-साथ उपयोग अमान्य कर दिया गया है। वस्तुत यह पूर्वोत्तर का सयोग नही समकालीन और समानातर का है, और यह समझ लेने पर कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' म एक साथ प्रयुक्त सस्कृत और अपभ्रंश की सावधि सत्ता म कोई सदेह नही रह जाता।) तब राग और रागिनियो के अस्तित्व का भी सकेत स्पष्ट मिल जाता है, यद्यपि रागो के अस्तित्व म सदेह का वैसे भी स्थान नही क्योकि कम-से-कम उनमे से चार का उल्लेख स्वय भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे कालिदास से प्रभूत पूर्व कर दिया था, और कालिदास भरत के नाट्यशास्त्र के प्रति अपनी जानकारी अनकानेक प्रकार से प्रकट करते है।

कवि ने नृत्य-कला को 'प्रयोगप्रधान' कहा है, इसी से

उसका वर्णन भी उसने अभिनय के साथ-ही-साथ किया है। नृत्य की अनेक शैलियाँ कालिदास के समय प्रचलित थी, जिनमे से एक 'पञ्चागाभिनय' का उल्लेख कवि ने 'मालविकाग्निमित्र' मे किया भी है। एक दूसरी शैली 'छलिक', अथवा (पाठभेद से) 'चलित', का उल्लेख भी कवि ने किया है। यह छलिक नृत्य चार पदोवाले एक गीत के साथ-साथ उसी की परपरा के अनुसार नाचा जाता था। वह गीत 'चतुष्पद' कहलाता था। चतुष्पद और छलिक का, गान और नृत्य के रूप मे, प्राय अन्योन्याश्रय सबध था। टीकाकार काटयवेम का कहना है कि इस प्रकार के नृत्य मे नर्तक अभिनय तो दूसरे का करता है पर प्रदर्शन अपने भावो का करता है। यहाँ नाट्य और नृत्य दोनो का सगम है जहाँ अभिनेता अपने से भिन्न स्थिति का अभिनय द्वारा पुनर्निर्माण करता है और अन्य तथा अन्यत्र की स्थिति को अपने मे सजीव करता है। परन्तु ऐसा करते हुए वह केवल दूसरे का प्रतिनिधिमात्र नही बल्कि अपने भावो का प्रदर्शक भी है। छलिक नृत्य निश्चय कठिन शैली का था।

कालिदास ने समकालीन सगीत मे प्रयुक्त होनेवाले अनेक वाद्यो का उल्लेख किया है। वीणा, मृदग, तूर्य (तुरही), और वेणु या वशी का प्रयोग होता था। वीणा और मृदग के अनेकानेक पर्याय होने से प्रकट है कि उनके कई प्रकार तब तक निर्मित हो चुके थे। वीणा के कवि द्वारा प्रयुक्त पर्यायो मे प्रधान हैं, तत्री, वल्लकी, परिवादिनी आदि और मृदग के पर्यायो मे पुष्कर और मुरज।

नगरो और मन्दिरो तक मे नर्तकियो और वारिणनी वेश्याओ का निरन्तर उपयोग होने से प्रकट है कि कवि के युग मे किस प्रकार सगीत की वृत्ति करनेवाले पेशेवरो का एक समाज खडा हो चुका था जो इन कलाओ को साधता था।

विशुद्ध ललित कलाओ—चित्रकला और मूर्तिकला—का समसामयिक प्रतिबिंब कालिदास के वर्णन पर भरपूर पडा है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, कालिदास का प्रादुर्भाव तब हुआ था जब जीवन के सारे क्षेत्र भरे-पूरे थे और चित्र और मूर्ति-निर्माण की कलाएँ अपनी चोटी पर थी। जीवन इतना बाहुल्य का नही था जितना चयन का था और उस चयन मे सुरुचि का विशिष्ट योग था। बारीकबीनी और शबाहत ज़िंदगी की रूह थी। प्राचीन काल मे ललित साहित्य और कलाओ के क्षेत्र मे जितने प्रयास और प्रयोग हुए थे, कालिदास का सावधि गुप्त काल उनका पोषक था। अजन्ता के अभिराम भित्तिचित्र तभी बने थे। वैसे उनका आरम्भ तो शुग काल मे ही, प्राय ६०० वर्ष पहले, हो गया था, परन्तु परिणति उनकी ५वी सदी ईसवी मे हुई। पत्थर की मूर्तिकला का आरम्भ भी मौर्य और प्राड्मौर्य युग मे हो चुका था और मौर्य काल मे तो उसने एक असाधारण चिकनी राजकीय शैली का भी विकास किया था। फिर शुगो के शासन में, दूसरी और पहली सदियो ई० पू० मे तो स्तूपो की रेलिंगो पर अनन्त मूर्त सपदा उभार कर बिखेर दी गयी थी। परन्तु औदार्य के ऊपर सुरुचि का, सूक्ष्मता और भावप्रवणता का मूर्तन अब इस गुप्त काल मे हुआ। मथुरा, सारनाथ और तक्षशिला के कलावत अमरावती से बामियान तक अपनी छेनी का जादू मूर्तियो के रूप मे फेंकते चले जा रहे थे। उन्ही दिनो पीतल, तांबे और कांसे की मूर्तियो की ढलायी मे धातु-कार्य ने अद्भुत प्रगति की जिसके प्रमाण कुर्किहार की धातु-मूर्तियां हैं। कुतुबमीनार की छाया मे, रायपिथोरा के आंगन मे लोहे की जो लाट खडी है, जिसे अनगपाल की कीली कहते हैं, और जिस पर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पौरुष की प्रशस्ति खुदी है—तीर्त्वा सप्त-*मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका*—वह उसी गुप्त काल मे खडी हुई। उसको खडे हुए आज प्राय डेढ हजार साल हो गये पर धूप और मेह का कतयी असर उस पर नही हुआ और प्रकृति के क्रूर प्रहारो के बावजूद आज भी वह अपनी धातु की सच्चाई की घोषणा कर रही है।

मृण्मूर्तियो का इतिहास भी कुछ इसी प्रकार का है। सामूहिक प्रजनन के रूप मे उनकी सी प्राचीन न तो पत्थर और धातु की मूर्तियां है और न लिखे हुए चित्र ही। मौर्यो से बहुत पहले, जब अभी चित्रण और मूर्तन का दूसरे क्षेत्रो मे विकास नही के बराबर हुआ था, हाथ से बनायी-सँवारी, आग मे पकायी, मिट्टी की मूर्तियाँ मातृदेवी की पूजा के लिए उपयोग मे आने लगी थी। फिर उन्हे साँचे का भी योग मिला और अन्त मे वर्ण का भी। मौर्य और शुग काल के सुन्दर आकृतियो से सजे, बिखरे फूलो की भूमि से उभरे मिट्टी के ठीकरे गुप्तकाल मे साँचे से सब ओर से ढलकर मूर्ति से रूप में 'सर्वतोभद्रिका' बन गये। मनुष्य की काल्पनिक आकृति ने गुप्तकाल मे अपना वास्तविक प्रकृत रूप पाया। मृण्मूर्तियो का सुरुचिजन्य व्यापक समुदय हुआ। बच्चे अत्यन्त आकर्षक मूरतो से खेलने लगे। सुरुचि और सुकाव्य के प्रतिनिधि सुकवि कालिदास ने भी अपनी नितात सुकुमार और अभिराम रचना शाकुन्तल मे नायिका के सुवन भरत को 'वर्ण-चित्रित मृत्तिकामयूर' दिया। वह युग की आत्मा थी जो कवि की भाषा मे बोली जैसे अजन्ता के भित्तिचित्र कवि के वर्णनो मे 'सद्मसु चित्रवत्सु' के-से पदो पर अपनी छाप छोड गये।

कालिदास ने चित्रकला के प्रति जितने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सकेत किये है उनका उल्लेख करने के लिए एक समूचे ग्रथ की आवश्यकता होगी। यहाँ केवल एकाध स्थलो का उल्लेख बस कर सकना सभव है—चित्रशाला, प्रत्यग्रवर्णरागा, सद्मसु चित्रवत्सु, सचित्रा प्रासादा, विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्, द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शखपद्मौ, सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन प्रतिकृति, मत्सादृश्य भावगम्य लिखन्ति, आलेख्य वानर इव, लिखिता सा शकुन्तला, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रग, पूरितव्य कदम्बै, कुसुमरस मधुकर तिलस्तत्र भवन्त्यो दृश्यन्ते. चित्रगताया आसन्नदारिका अपूर्वेय आलिखिता, चित्रपरिचयेनागेषु। इनमे प्रतीकत अनेक प्रकार के चित्रो का सकेत निहित

है। सद्मसु चित्रवत्सु, सचित्रा प्रासादा, विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम् द्वारोपान्ती लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ, सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन, आदि भित्तिचित्रो का उल्लेख करते हैं। कालिदास ने अपने समकालीन अजता और बाघ की गुफाओं के चित्र स्वय देखे होंगे और अतिरिक्त उनके साधारण वास-गृहो मे भी दीवारें चित्रो से भर दी जाती रही होंगी। उनका स्पष्ट उल्लेख 'विमानाग्रभूमिरालेख्यानाम्' मे है जो अजता और बाघ की ओर नही नागरिको के सामान्य भवनों की ओर सकेत करता है। द्वार के दोनो तरफ ऊपर शख और पद्म का चित्रण प्राचीन परम्परा है जो आज भी गाँवो मे अनेकधा जीवित है यद्यपि उनकी सुरुचि अब समाप्त हो चुकी है और उनका स्थान अधिकतर भद्दी शक्लो के समुदाय, विशेषकर अंग्रेजी नकलो ने ले लिया है। इन्द्रधनुष का चित्रण अथवा प्रधान द्वार के मुखालिंद को तोरण के रूप मे गढकर द्वार सजाना तब की आम बात थी।

भित्तिचित्रो के अतिरिक्त दृश्यचित्रण या लैंडस्केप और समूह चित्रण या ग्रुप-पेंटिंग और प्रतिकृति चित्रण या पोर्ट्रेट पेंटिंग का भी कालिदास ने जिक्र किया है। दृश्य को चित्र-फलक पर बहुविध लिखकर उसकी अग्रभूमि और पृष्ठभूमि को कदम्बो अथवा दूसरे पारपरिक वृक्षो से भरना दृश्यचित्रण का एक रूप था। कुसुमरस—दृश्यन्ते, समूहचित्रण का दृष्टान्त है जिसमे शकुन्तला, प्रियवदा और अनसूया चित्रित हैं और कुसुमरस का चोर मधुकर शकुन्तला के अधरो की ओर ललचाये डक चलाये जा रहा है। उसी प्रकार का चित्रण चित्रगताया—आसन्नदारिकाम् द्वारा निर्दिष्ट है जिसमे पास खडी दासी का चित्र मे आलेखन हुआ था। प्रतिकृतियो का उल्लेख तो कालिदास ने अनेक बार किया है। स्मृति से, बिना माडल के, प्रिय का चित्रण करना ही, 'मत्सादृश्य भावगम्य लिखन्ती' मे ध्वनित हुआ है। 'लिखिता सा शकुन्तला,' 'अपूर्वेय—आलिखिता', और 'आलेख्य वानर इव' आदि मे भी उसी प्रतिकृति चित्रण का विन्यास है। कश्मीर

मे छोडी प्रिया से दूर मध्यप्रदेश के दक्षिण रामटेक के पास रामगिरि पर अपने प्रवास के कठिन दिन काटनेवाला विरही यक्ष चट्टान पर गेरु से प्रिया का चित्र बनाकर अपने एकाकी और कल्पसम क्षणो को भरता है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागैं शिलाया
मात्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैंस्तावन्मुहुरुपचितदृंष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम नौ कृतान्त ॥ (४२)

शिला पर मान करती हुई तुम्हे गेरु से चित्रित करता हूँ पर जब तक तुम्हारे चरणो मे मानभजन के निमित्त माथा टेके अपना चित्र लिखना चाहता हूँ तब तक आखें भर आती है और दृष्टि-पथ लुप्त हो जाता है चित्र अधूरा रह जाता है। क्योकि क्रूर विधि वाएँ है और चित्र तक मे हमारा समागम उसे स्वीकार नही।

केवल पिण्ड-चित्रण का प्रचलन देश मे न था बल्कि सूक्ष्म नितात भावपरक चित्रो का भी आलेखन होता था जिनमें चित्त-वृत्ति की रागबद्धता चक्षुगम्य कर दी जाती थी। 'रागबद्धचित्त-वृत्तिरालिखित इव सर्वतो रग मे उसी शैली की ध्वनि है। इस प्रकार के भावप्रधान एक चित्र का उल्लेख शाकुन्तल के छठे अक मे हुआ है जहा दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है—

कार्या सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
शृगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम् ॥ (१७)

दुष्यन्त कहता है—ऐसा चित्र बनाना चाहता हूँ जिसमे कण्वाश्रम की मालिनी का स्रोत बह रहा हो, उसकी धारा के दोनो ओर दूर तक रेत फैली हो जिसपर डोलते हसो के जोडे अपने पद-चिह्न छोडते चले गये हो, जिस धारा के दोनो ओर हिमालय की पर्वतमालाएँ दौड गयी हो और उन पर हिरनो के झुड बैठे हो।

चाहता हूँ कि एक ऐसा तरुवर उस चित्र में लिखूँ जिसकी शाखाओं से वैखानसों के वल्कल वस्त्र लटके रहे हों और जिसके नीचे बैठी मृगी अपने कृष्णसार मृग के कठोरतम अग सींग से अपने मर्मतम वाम नयन को विश्वासपूर्वक खुजा रही हो।

निःसंदेह साहित्य यह 'अभिप्राय' (मोटिफ) कला के लिए प्रस्तुत कर रहा है जो शब्दों की भावभूमि से उठकर चितेरे की तूलिका द्वारा रागरंजित हो आलेखन का प्रतीक हो उठेगा। इसी प्रकार का एक दूसरा शाब्दिक 'अभिप्राय' शाकुन्तल के उसी अंक के अगले श्लोक में इस प्रकार प्रस्तुत है—

> कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
> शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
> न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
> मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ (१८)

दुष्यन्त कहता है—अभी, मित्र, चित्र में बहुत कुछ बनाना है—अभी तो कानों से नीचे गालों तक सिरस के कोमल फूल भी नहीं लटकाए जिनसे पराग-झर झर कर कपोलों से सट जाता है, और ना ही स्तनों के बीच शरदकालीन चन्द्रमा की किरण सा सुकुमार पद्म सूत्र ही रचा।

इस प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में समान लाक्षणिक शब्दों, समान भाव व्यंजनाओं, समान प्रतीकों और समान 'अभिप्रायों' का उपयोग हुआ है। यही कारण है कि क्लासिकल, रामैन्टिक, रियलिस्टिक, इम्प्रेशनिस्टिक, क्यूबिस्टिक, सुरियलिस्टिक, सोशलरियलिस्टिक, रोमनेस्क, अरबेस्क, गोथिक और बरोक तक के लाक्षणिक संकेत साहित्य और कला की विविध शैलियों को स्पष्ट करने के लिए दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होने लग हैं। यही कारण है कि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में शुक्रनीति के प्रयोग कला सम्बन्धी संकेत शब्द 'शिथिलसमाधिदोष' का व्यवहार तो साहित्य के हृदय में चित्रण की अभिव्यक्ति के

लिए किया है। 'चित्रशाला' मे सूखने के लिए टँगा गीले रगो का (प्रत्यग्रवर्णरागा) मालविका का चित्र पहले अग्निमित्र को अतिरजित लगता है। पर वही, मालविका से साक्षात्कार हो जाने के बाद 'शिथिलसमाधिदोष' का प्रमाण लगता है। कलाकार से आशा की जाती थी कि आलेख्य चित्रित करने या कोरने से पहले वह समाधि मे बैठे और कार्य पर मनोवृत्ति केन्द्रित करे, फिर जब लक्ष्य अपने सर्वांग से कलाकार की दृष्टि मे उठ आये तभी वह उसका चित्रण करे वरना वह शिथिलसमाधि का दोषी हो जाएगा। सावधि चित्रकार शुक्रनीति के इस सिद्धान्त और कालिदास की इस प्रयुक्त पद्धति का बहुश. प्रयोग करते थे।

मूर्तिकला का यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख करना उचित होगा, यद्यपि कवि के वर्णन-परिवेश के अनुपात मे फिर भी वह उल्लेख सर्वथा समीचीन न हो सकेगा। नि सन्देह प्रत्यक्ष रूप मे तो मूर्तिकला की ओर कवि का सकेत अपेक्षाकृत कम हुआ है, अप्रत्यक्ष रूप मे उसके प्रति उल्लेख कुछ कम नही है।

मयूरो का स्वप्निल हो वासयष्टि पर उत्कीर्ण मयूरो का-सा लगना कवि के मन भाया है (विक्रमो०, ३, २)। कवि ने निश्चय कुषाणकालीन (मथुरा, लखनऊ के सग्रहालयो मे सुरक्षित) स्तभगत नग्न और विभिन्न मुद्राओ मे रेलिगो पर खडी उत्कीर्ण यक्षी मूर्तियो को देखा होगा वरना उसके लिए किसी प्रकार यह लिख सकना सगत न होता कि रेलिग स्तभो पर बनी नारी प्रतिमाओ के उत्तरीयो के वस्त्र धूल से लुप्त हो जाने पर अब उन पर रमते सर्पों की केंचुलें ही उनके ऊर्ध्वाधो को ढकने वाले उत्तरीय बन गयी हैं—प्रकट ही यह सकेत 'वासो रिलीवो' मे उत्कीर्ण यक्षिणियो के प्रति है—

स्तम्भेषु　　योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सगान्निर्मोकपट्टा फणिभिर्विमुक्ता ।

(रघु० १६, १७)

प्राय कवि के ही जीवन-काल मे, अथवा उससे केवल सौ-पचास वर्ष ही पहले गगा-यमुना की मकर-कच्छप पर खडी चँवरधारिणी मूर्तियो का मूर्तन हुआ था। कवि को शिव के दोनो ओर—गुप्तकालीन और गुप्तोत्तरकालीन मन्दिरो की भाँति—उन्हे प्रतिष्ठित करना शोभन लगा—

मूर्ते च गगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेवियाताम् ।
(कुमार०, ७ ४२)

इसी प्रकार शेषशायी (भोगिभोगासनासीन) श्रीवत्सलक्षण से सयुक्त वक्षवाले शख चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु की लक्ष्मी द्वारा अर्चित मूर्ति साक्षात् पुरुष की कवि को लगी। पुरुषश्च साक्षात्
—(कुमार० ६ ७)

भरत के खेलने के लिए जिस मिट्टी की मूर्ति का—वर्णचित्रित पक्षी का—शाकुन्तल मे वर्णन हुआ है, उसकी उँगलियाँ जालग्रथित—जाल से एक-से-एक जुडी—है, जो कवि के काल मे ही उस शैली मे पहली बार बनी थी और जिनके अनेक उदाहरण लखनऊ सग्रहालय मे आज भी सुरक्षित है।

अप्रत्यक्ष रूप से ध्वन्यात्मक निरूपण कवि ने जिन मूर्तन प्रतीको का किया है, उनकी सख्या अनन्त है, यहाँ हम कुछ की ओर सकेत करेंगे। देवताओ के मुखमण्डल के चतुर्दिक वृत्ताकार जो प्रकाशपुज (हैलो) होता है, और जो कुषाण-गुप्तकालीन मूर्तियो मे (विशेषकर बुद्ध की मूर्तियो मे) बना प्रतीक है, उसका उल्लेख कालिदास ने 'प्रभामण्डल' और 'छायामण्डल' आदि नामो से किया है। प्रभामण्डल के स्फुरित (कम्पित प्रकाश-रश्मियो सहित) रूप की व्याख्या उसने 'स्फुरत्प्रभामण्डल' द्वारा की है। गुप्त सम्राटो के पूज्य कार्त्तिकेय के समकालीन मूर्तन का उल्लेख 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' मे हुआ है। मोर की पीठ पर चढे कार्त्तिकेय की मूर्त्ति मथुरा और लखनऊ के सग्रहालयो मे अनजानी नही है। देवी मूर्त्तियो की गुप्तकालीन चित्रकला विभिन्न शैलियो मे सपन्न हुई थी, उसका कवि ने अनन्त

ग्रौर प्रत्यक्ष वर्णन किया है। तत्कालीन मूर्तियो ग्रौर चित्रो मे नर-नारियो के केशकलाप मे जो स्कन्धस्पर्शी कुन्तलो के दर्शन होते हैं, उनका निरूपण कवि ने बार-बार 'ग्रलकजाल' ग्रादि शब्दो द्वारा किया है। वस्तुतः समकालीन मूर्त्तिसपदा शायद कवि के काव्य मे मूर्त्तियो के प्रमाण बन गयी है। प्रसाधन के जो वर्णन कवि ने किये हैं, उनके ग्रनन्त मूर्तरूप ग्राज सग्रहालयो मे उपलब्ध हैं। सप्तमातृकाग्रो, लक्ष्मी, रावण द्वारा कैलास का उत्तोलन, लीलारविन्द घुमाती नारी, नागी, पूर्णकुम्भ, किन्नर, ग्रश्वमुखी यक्ष-यक्षी ग्रादि के कवि की रचनाग्रो मे जिस ग्रमित मात्रा मे उल्लेख मिलते हैं, उसी मात्रा मे समकालीन मूर्त्ति-कला मे उनका मूर्त्तन हुग्रा है। शिव की समाधि बुद्ध की समाधिगत मूर्त्तियो से *भिन्न नही, वस्तुत उन्हे ही प्रमाण मान मूर्त्त हुई है* ग्रौर शिव की समाधिवाले लताद्वार पर बाएँ प्रकोष्ठ से हेमवेत्र टिकाये नन्दी का जो रूप है वह समसामयिक किसी भी द्वारपाल को उत्कीर्ण ग्राकृति मे देखा जा सकता है। कामदेव के वास्तविक जीवित रूप का वर्णन कवि ने किया है। कुषाणकालीन कामदेव की मृण्मूर्त्तियाँ ग्रपने पचसायक रूप मे कुछ कम मनोहारिणी नही। ग्रशोक दोहद का कवि ने ग्रपने 'मालविकाग्निमित्र' मे सचित्र प्रत्यक्ष वर्णन किया है। कुषाणकालीन रेलिंग की यक्षी जिस कौतुक से ग्रशोक दोहद सपन्न करती है, मथुरा सग्रहालय मे प्रदर्शित उसकी मूर्त्ति कवि का छन्दस् बन गयी है।

कालिदास का जीवनकाल ग्रपने वातावरण मे जितना ऊँचा है उतना ही उनकी निरीक्षण-शक्ति भी प्रबल है। काव्य मे कविशक्ति के साथ सर्वोच्च शिल्प ग्रौर वस्तु का इतना गम्भीर सयोग ग्रन्यत्र नही हुग्रा।

❂

२५

रघु की दिग्विजय

●

शरदागम पर जब बरसात का मल बह गया, पंक सूख जाने से मार्ग चमक उठे, दिशाएँ दरपन-सी झलकीं, चढ़ी नदियों का जल उतर गया, मतवाले हाथियों के गंडस्थल पर चढ़ मद चूने लगा तब दिलीपनन्दन रघु ने दिग्विजय की यात्रा की—

प्रासाद के प्रांगण में हवनों की सुरभि ले लोल पवन डोला। अथर्व के विजयमंत्रों की फैलती गरिम गिराओं के बीच गिरि-कज्जल कुंजर डोले, वनायु तुरंग कसमसे, खुरों से धरा खोद बोले पैदलों की पाँति हिली, रथों के चाक हिले, वीरों के वसन पर, कन्धों और शीष पर विदाई के अक्षत के खील खिले, विजयी रघु तुरही के तीखे सुर, डंके की चोट चले—

चतुरंगिणी सेना के घरहरे फहरे, धरा की धूल आकाश लगी, मेघवत् गजों का संभार लिये आकाश जैसे धरा पर उतरा—कौन पहचाने उस एकतान धूलायित अम्बर को, धरा को?

चतुरंगिणी लिये, गुप्तचर और शत्रुमार्गदर्शक लिये रघु पहले पूर्व की ओर चले, नदियों पर पुल बाँधते, बनैले गजराज की भाँति राह के राजतरुओं को झिझोड़ते, तोड़ते, जड़ से उखाड़ते—

पूरब के जनपदों को जीतते रघु ताड़ों की पाँत से श्यामल

सागर तीर की ओर वढ । सुह्मो के राजा आँधी के सामने वेंतो की तरह झुक गये और जब जलयानो मे चढ-चढ बगो के राजा सामने आये तब रघु ने उन्हे जड से उखाड गगा की सागर-*गामिनी धाराओ के बीच अपनी विजय के खभे गाड—*

क्यो नही ? धर्मविजयी नृप थे रघु—अविनयी को उखाड देनेवाले, विनीत को धान की पौधो की तरह निराकर फिर से रोप देनेवाले वे धराधारी वीरभोगी रघु—

फिर तो गजो का सेतु बाँध कपिशा लाघ रघु उत्कल पहुँचे । चोट खाये उडिया राजाओ की बतायी राह चल कलिंग के राजाओ पर जा टूटे । मतवाले गजराज के मस्तक पर चुभाये अकुश की भाति रघु ने महेन्द्र पर्वत की चोटी पर अपने शिविरो के वल्ले गाड दिये ।

युद्ध ठन गया कलिंग के हाथी विथक गये ।

अस्त्रो की वर्षा क्या थी रघु के लिए नए जीते राज्य के अभिषेक का स्नान था । फिर तो विजय मद से मदी रघु की सेना ने छक कर पीने का निश्चय किया—महेन्द्र की ढलानो पर सागर के तीर नारिकेलो की छाया मे आपानक बना और उस पानभूमि मे बठ पान के पत्रो को चपक बना रघु के सैनिको ने उनमे नारियल की सुरा ढाली । साथ साथ शत्रुओ का यश भी पी लिया—

चरणो मे झुके कलिंगराज को पकड लेने पर भी बन्धन मुक्त कर धर्मविजयी रघु ने उसकी राज्यश्री तो हर ली पर राज लौटा दिया—स्वय अगस्त्य की गयी दिशा दक्षिण की ओर चले, सुपारी लदे उन कमनीय छरहरे तरुओ की ओर सागर की लहरियाँ जिन्हे लहरा-लहराकर चूम रही थी—

और वह लाज की बात ! सामने कावेरी की धारा थी । विक्रान्त सैनिक मत्त गयन्द की तरह उसमे हल चले, सैनिक भी गज भी । कावेरी की धारा मथ गयी जल से मद की कसैली गन्ध उठी । नदी की ऐसी गति बनी कि सागरपति के समीप जाय और पति उसे पतिया न पाये, शका कर उठे !

आगे मलयाद्रि की उपत्यका थी। ऊँची-नीची पहाडी राह लांघते रघु वहाँ जा पहुँचे, जहाँ डालो से गिरती मिर्चों को निरन्तर उडते हरे-हरे तोते बीच से ही चोचो मे लोक लेते थे, जहाँ घोडो के खुरो से कुचली इलाइची की धूल जब उडती गजो के वहते मद-जल पर जा गिरती, मद और इलाइची दोनो की तीखी गन्ध से हवा तब बस जाती। चहुँ ओर छाये चन्दनों की सुरभि ही तब सहायक होती।

दक्खिन जाते सूरज का प्रचण्ड तेज भी मन्द पड जाता है, उत्तर के राजाओ की दक्षिण के पाड्यो के सामने एक नही चलती, पर रघु तो रघु थे, पाड्यो को काठ मार गया, अपने सचित यश के साथ-साथ ताम्रपर्णी और सागर के सगम के मोतियो की राशि भी उन्होने उस विजयी को समर्पित कर दी।

मलय और दर्दुर के गिरिचन्दनो से टकराते रघु अपनी सेना लिये फिर सह्याद्रि पार सागर तट पर जा उतरे। केरलियाँ भय से भभर कर भागी तो विजयिनी सेना द्वारा उठायी धूल ही उनके नगे सीमन्त के अस्तव्यस्त कुचित कुतलो का मडन बन गयी, प्रसाधन का चूर्ण।

इस प्रकार अपरान्त का जीत रघु फिर उत्तर की ओर चले। फिर तो घोडो के कवच ऐसे सनसनाये जैसे पवन की चोट से ताड के पत्ते। त्रिकूट पर्वत पर हाथियो ने जो अपने दाँत मारे तो लगने लगा कि उनमे बनी रेखाएँ स्तभ पर लिखे रघु की विजय-प्रशस्ति की पक्तियाँ हो।

आगे पारसीको को जीतना था, बलाचिस्तान पार के ईरानियो को। सरल मार्ग जल का था, कठिन मार्ग रेगिस्तान का था, राजस्थान की यातक मरुभूमि का। पर जैसे योगी तत्वज्ञान के सहारे इन्द्रियो पर चोट करता है, रघु ने जल की सुगम राह तज मरुस्थल की कठिन राह पकडी—

पारसीकांस्ततो जेतु प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इंद्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन सयमी॥

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमद न स ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदय ॥

सयम भी बुरी बला है । रघु का सयम पारसीक यवनियो के मदिरा से गमकते मुँह को न से सका, न सह सका । जैसे अकाल मेघोदय से प्रात के खिले, कमल मुरझा जाते हैं। वैसे ही यवनियो के मुख-कमल रघु के अचानक आक्रमण से मुरझा गये ।

कोजक अमरान के पहाडो से सिन्धु पार रघु की सेना फारस की दाखो से ढकी भूमि पर जा उतरी थी ।

पारसीक घुडसवारो के रिसाले सामने राह रोके खडे थे । तुमुल सग्राम छिड गया । तलवार-से-तलवार बज उठी, भाले-से-भाला । घोडो ने ठोकरो से मार-मार पृथ्वी आकाश मे बिछा दी । धूल के मारे कुछ दिखता न था, शत्रु-मित्र की पहिचान केवल धनुष की टकारो से होती थी । रघु ने बाण मार-मार कर जो पारसीको के सिरो से भूमि पाट दी तो उनकी दाढियो से लगने लगा जैसे मधुमक्खियो से भरे मधु के छत्तो से धरती ढक गयी हो ।

जो बच रहे वे शिरस्त्राण उतार रघु के चरणो मे जा गिरे । महात्माओ का आचरण करनेवाले विजयी ने उन शरणागतो को क्षमा कर दिया ।

फिर तो सैनिको की बन आयी । उन्होंने दाखो-अगूरो के घेरो से धरा को ढक लेनेवाली बेलो की ओर देखा और अगूरी सुरा उनकी आंखो मे उतर आयी । उन्होने आपानक रचा, मृग-छालाएँ बिछा-बिछा, छक-छककर मदिरा ढाली, विजयश्री के साथ-साथ पी ली । समर की थकान मिट गयी ।

और तब उत्तरवालो की विजय करने भारतीय विजेता उत्तर की दिशा की ओर चला, उधर के उन्नत जनपदो को रौंदता । फिर वह वखख-बदख्शाँ की ओर फिर गया, आमू-दरिया की घाटी मे जा उतरा जहाँ दुर्द्धर्ष हूण उसकी राह रोके खडे थे—

उस महानद के तीर खड़े हूणों को धूल चटा जब रघु ने उनके शिविरों को भूमिसात कर दिया तब अन्तःपुर की हूण नारियाँ सिर पीट-पीटकर रोने लगीं, पीटने से उनके गाल लाल हो उठे।

विजयी ने युद्ध का श्रम आमूदरिया की केसर की क्यारियों में दूर किया। उसके घोड़े जब थकान मिटाने के लिए क्यारियों में लोटने लगे तब उनके अयालों में केसर भर गयी, अटाएँ झटक-झटक कर भी वे उन्हें गिरा न सके।

कश्मीर के उत्तर-पश्चिम कम्बोजों की पराक्रम-भूमि है, उन कंबोह कबीलों की भूमि जो कश्मीर की सुहावनी घाटी को ललचायी आँखों निहारा करते हैं। रघु के रिसालों ने उनकी ठसक तोड़ दी, उनके अखरोटों से उसने अपने हाथी बाँधे। जैसे हाथी बाँधने से अखरोटों की डालियाँ झुक गयी वैसे ही कबिलाइयों के कंबोज नेता हार का बोझ लिये झुक गये।

ऊँचे घोड़ों की भेंट और सोने की राशि कर के रूप में स्वीकार कर रघु अब देश की ओर लौटे, हिमालय की राह। घुड़सवारों के साथ वे हिमालय पर चढ़ गये, लगा जैसे घोड़ों की टापों से झरती गेरु की धूल से पर्वतराज की चोटियाँ कुछ और ऊँची उठ गई हों!

जैसे पर्वतराज की चोटियाँ कुछ और ऊँची उठ गई हों, सच! और रघु के वीर सैनिकों का सिंहनाद सुन गुहाओं में सोये सिंह कुछ उचके, सहमे, फिर चुपचाप सो गये।

भोजपत्रों में मरमर करता, बाँसों के छेदों में रम बंशी बजाता-सा, गंगा की नीहारिकाओं से शीतल पवन रघु की थकान हरता जा रहा था। सैनिक नमेरु वृक्षों की छाया में पड़ी कस्तूरी मृग के स्पर्श से सुवासित शिलाओं पर जा बैठे, साँझ हुई, रात आयी।

देवदारों से बँधे हाथियों के कण्ठे रह-रह कर अपने आप

उसने बहुविधि पूजा की ।

दिशाओं को जीत रघु राजधानी लौटे । आगे-आगे रथों की सेना, उसकी उठती धूल, पीछे छत्रों-मुकुटो से विहीन राजा जिनके केशों पर यह धूल बैठती जाती थी ।

दिग्विजयी रघु ने अब विश्वजित् यज्ञ किया । सारा जीता हुआ धन दे डाला, जैसे नभ धरा से जल खींच सहस्र धार बरस फिर उसे ही लौटा देता है । सचय की सार्थकता विसर्जन मे ही है ।

विश्वजित् सम्राट् ने फिर राजाओ को मुक्त कर उन्हें उनका राज लौटा दिया । उन्हे दीर्घकाल से बिछुडी रानियो से सयुक्त किया ।

अपने घर लौटते विजित राजा जब प्रणाम-क्रिया मे रघु के चरणो मे झुके तब उनकी स्वाभाविक गोरी उँगलियाँ राजाओ की चूडा की मालाओ से झरते पराग से और भी गोरी चमक उठी ।

और मेहरौली मे कुतुबमीनार के पास पृथ्वीराज के आँगन मे भारत के विजयी ने 'दिल्ली की कीली' गाडी । कालिदास के इस रघुदिग्विजय के शालीन मे ही समकालीन कवि ने गाया जो उसकी 'कीली' की लोहे की भूमि पर खुद गया—

> यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागता
> न्वगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
> यस्याद्यप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण ॥

जिसने बगाल के शत्रुओं के सघ बनाकर आने पर उन्हे तितर-बितर कर, युद्ध मे नष्ट कर, खड्ग से कीर्त्त लिखी, जिसने सिन्धुनद की सातो धाराओ को लाँघ वाह्लीक—बलख—मे हूणो को जीता, जिसके पराक्रम की सुरभि से दक्षिण सागर आज भी सुवासित हो रहा है ।

जल उठनेवाली बूटियो के तेलहीन दीपक के प्रकाश मे चमक उठते थे।

प्रात जब सूर्य ने हिमालय के शिखरो पर स्वर्णराशि बिखेर दी तब रघु की विजयवाहिनी तिब्बत की ओर पूरब की राह चली—

पूरब की राह किरातो से भरी थी—पीत काय पहाडियो मे। उत्सवसकेतो की सेनाएँ रघु के बाण-वर्षण से निरस्त हो भागी, कन्दराओ मे समा गयी।

किन्नर रघु की विजयो के गीत गा उठे, किन्नरो का सगीत सार्थक हुआ!

हिमालय से कर मे द्रव्य की अनन्त राशि ले, उस पर अपनी विजय का स्तभ स्थापित कर रघु पूरब की ओर चले। राह मे कैलास का उत्तुग शिखर खडा था पर विजेता ने उसकी ओर देखा तक नही।

कैलास का वह उत्तुग शिखर लजा गया, सोचने लगा, एक बार रावण ने मुझे हिला क्या दिया मैं सभी के अपमान का पात्र बन गया। देखो न इस रघु को अभिमानवश मुझे नगण्य मान मेरी ओर रुख भी नही करता, युद्ध के लिए मुझे सत्पात्र तक नही मानता!

आगे, पूरब हिमालय से उतरते ही, मैदान मे लौहित्य नदी मिली, ब्रह्मपुत्र, जो भोटो के देश से असम मे आ उतरती है लाल जिसका जल है, अरुण के उदय के बाल स्पर्श से लाल, क्योकि प्राची का पहला प्रकाश वही उदित होता है। प्राग्ज्योतिष इसीसे उसके तटवर्ती जनपद की राजधानी का नाम है।

सो, लौहित्य को लाँघ रघु ने प्राग्ज्योतिष के कालागुरु के वृक्षो से अपने हाथी बाँधे। पर अभी रण का नगाडा तक नही बजा था कि जैसे कालागुरु के तरु काँप रहे थे वैसे ही काँपता कामरूप का राजा रघु के सामने नतमस्तक आ खडा हुआ। फूल-मालाओ से, रत्नोपहारो से सोने के पीढे पर रखे उनके चरणो की

उसने बहुविधि पूजा की।

दिशाओं को जीत रघु राजधानी लौटे। आगे-आगे रथों की सेना, उसकी उठती धूल, पीछे छत्रों-मुकुटों से विहीन राजा जिनके केशों पर वह धूल बैठती जाती थी।

दिग्विजयी रघु ने अब विश्वजित् यज्ञ किया। सारा जीता हुआ धन दे डाला, जैसे नभ धरा से जल खींच सहस्र धार बरस फिर उसे ही लौटा देता है। संचय की सार्थकता विसर्जन में ही है।

विश्वजित् सम्राट् ने फिर राजाओं को मुक्त कर उन्हें उनका राज लौटा दिया। उन्हें दीर्घकाल से बिछुड़ी रानियों से संयुक्त किया।

अपने घर लौटते विजित राजा जब प्रणाम-क्रिया में रघु के चरणों में झुके तब उनकी स्वाभाविक गोरी उँगलियाँ राजाओं की चूडा की मालाओं से झरते पराग से और भी गोरी चमक उठीं।

और मेहरौली में कुतुबमीनार के पास पृथ्वीराज के आँगन में भारत के विजयी ने 'दिल्ली की कीली' गाडी। कालिदास के इस रघुदिग्विजय के शालीन में ही समकालीन कवि ने गाया जो उसकी 'कीली' की लाहे की भूमि पर खुद गया—

यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रू समेत्यागता
न्वङ्गेष्वाहववर्तिनऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्यप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण॥

जिसने बंगाल के शत्रुओं के संघ बनाकर आने पर उन्हें तितर-बितर कर, युद्ध में नष्ट कर, खड्ग से कीर्त लिखी, जिसने सिन्धुनद की सातो धाराओं को लांघ वाह्लीक—वलख—में हूणों को जीता, जिसके पराक्रम की सुरभि से दक्षिण सागर आज भी सुवासित हो रहा है।

२६

ते भागधेयानि पृच्छ !

●

पद्रह सौ वर्ष से अधिक हुए जब महाभारत की एक सामान्य आख्यायिका को लेकर एक महाकवि ने उसमे अमर प्राण फूंक दिये। तब से आज तक निरन्तर हमने उसके सपर्क मे अनत साहित्यिक आनन्द का लाभ उठाया है। यह शाकुतल क्या है? क्या एक शृगारिक कवि की वासना का मात्र रौप्य व्यक्तीकरण?

'अभिज्ञानशाकुतल' नाटक एक नैतिक रहस्य है। दुष्यन्त महाभारत का लपट और कामुक राजा नही, कालिदास का उत्तम पात्र है जिसके चरित्रचित्रण मे उसने कौशल लगाया है। भले ही शकुतला के त्याग से हम उसकी गर्हणा कर, परन्तु क्या कोई सहृदय कलामर्मज्ञ सचमुच उसे इस प्रतारणा के योग्य ठहरा सकता है? कालिदास के दुष्यन्त का प्रेम-राग तो दुर्वासा की ब्रह्मवर्चस् अग्नि मे भस्म होकर पवित्र हो गया है।

स्थूल-पार्थिव रूप मे भी दुष्यन्त सर्वथा क्षम्य है—यथार्थ मे तो इसमे उसके दोष का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि इस अवस्था मे सामारिक मानव की भाँति ही वह भी दुख-सुख का अधिकारी है, द्वद्वो का धनी है। वह राजा है। कालिदास के द *काव्य-ग्रथो मे दोनो स्थलों पर राजा का वर्ण और आश्रम-*धर्मों का गोप्ता कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणा रक्षिता' है,

वर्णाश्रमो केर क्षणकर्म मे अनवरत 'जागरूक' है। वर्णाश्रम धर्म की सीमा का जब कोई पात्र उल्लघन करता है तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी उस पर आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा पात्र राजा अथवा 'तपस्विसुत' ही क्यो न हो। कालिदास के विचार मे सामाजिक व्यवस्था को मानकर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण न करनेवाला वह पापी है जो नियता द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक प्रणाली का विरोध करता है। शासन और सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी ? एकमत होकर सारे देवताओ ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति मांगा जो शासन और दण्डनीति द्वारा समाज का नियन्त्रण कर सके, उसमे होनेवाले अपचार के कारणो को दड की आग मे जला सके। फलस्वरूप मनु मिले जिन्होंने मानव जाति को सर्वप्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिसकी मनुष्यो ने स्वय याचना की थी, भग करने की उन याचको मे ही क्योकर क्षमता हो मकती थी ? जो ऐसा करने का साहस करेगा वह कितना साहसिक होगा ! उसका दमन आवश्यक है। ऐसे ही व्यवस्था-भजको के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण मे सतत जागरूक क्यो न हो ? इसी कारण जब-जब वर्णाश्रमधर्म की उपेक्षा की गयी है, तब तब कालिदास ने राजा को उसके रक्षणधर्म का स्मरण कराया है। मनुष्य मात्र को इस व्यवस्था भजन के जघन्य पाप स सावधान करने क लिए ही उसने 'अभिज्ञानशाकुतल' की सृष्टि की। यह पूरा नाटक केवल एक स्रोत है जिसके पूर्वभाग का सबध वर्णाश्रम-धर्म की क्षति से और उत्तरभाग का उसके दड से है। शाकुतल मे कालिदास ने ससार के सामने रगमच पर खेल कर यह बात घोषित कर दी है कि समाज की व्यवस्था तोडनेवाला चाहे समर्थ राजा अथवा तपस्वी ऋषि की सुकुमारी कन्या ही क्या न हो, उस पर दडविधान का चक्र अवश्य प्रवृत्त होगा क्योकि वह चक्र व्यक्तित्व की अपेक्षा नही करता।

मृगया करता हुआ दुष्यत कण्वाश्रम मे पहुँचता है। कुलपति नही है। परन्तु आश्रम के आचार की रक्षा के लिए अनेक तपस्वी हैं, और ऋषिकन्या शकुतला अतिथिसत्कार के लिए विशेष प्रकार से नियुक्त है। अतिथि का आचरण करनेवाला दुष्यत इस कन्या द्वारा की गयी पूजा सब प्रकार से स्वीकार करता है। अर्घ्यादि प्रदान करने के साथ ही आश्रमवासिनी सरला कन्या अपना सर्वस्व अर्पण कर बैठती है। दुष्यत उसे हृदय खोल कर स्वीकार करता है। प्रेम का सचार पहले उसीके हृदय मे होता है और उसकी वृत्ति चोर की सी हो जाती है। साधारण ग्राम्यरूप उसके प्रेम का नही दीखता, बल्कि उसमे लुका-छिपा नागरिक के प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागरिक प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य-प्रेम का अत प्राजापत्य विवाह मे होता है, और नागरिक का प्राय गाधर्व मे। नागरिक प्रेम मे ओतप्रोत दुष्यत शकुतला के शरीरगठन की कमनीयता को चोर की भाँति छिप कर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुतला जब दुष्यत को देखती है, उसी की हो जाती है। दोष किसका है? दुष्यत का या शकुन्तला का? क्या यह दोष है भी? मनुष्य जहाँ होते हैं वही उनकी दुर्बलताएँ भी होती हैं। फिर भी तपोभूमि विराग का स्थल है, केलि-कानन नही। सासारिक सुखो का आस्वादन समाप्त कर चुकने पर मनुष्य इस आश्रम का वासी होता है। यह आश्रम वह स्थल है जहाँ शम, दम, नियमादि का पालन किया जाता है। यदि यहाँ भी सासारिक इद्रियलोलुपता घर कर ले तब तो बस आश्रम का अत हुआ समझिए। इसी कारण 'वेतसनिकुज' के गाधर्व प्रेम के अनतर अनुसूया घबरा उठती है—आश्रम के नियमो पर वरुण की भाँति दृष्टि रखनेवाले कुलपति कण्व के आने पर यह अनाचार की बात उनसे कैसे कही जायेगी? इस पाप की जघन्यता क्या स्वय शकुन्तला नही समझती? साधारण नियमो को देख-देख कर आज इस व्यवस्था-ह्रास के युग मे भी जब बिना सावधान किए ब्राह्मण का पाँच

वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा नहीं छूना चाहिए, बिना पांव धोए चौके में नहीं जाना चाहिए, तब क्या तपोधनी कण्व की कन्या आचारपूत आश्रम में आजन्म रह कर भी, नित्यप्रति संपादित होनेवाले क्रियाप्रबन्धादिकों को देख कर भी, उचित-अनुचित नहीं समझती ? वह कला जानती है, प्रेम की पीड़ा पहचानती है, अनुकूल आकर्षण की प्रेरणा से उसे सात्विक स्वेद और रोमांच हो जाते हैं, खुले दरबार में शास्त्रों में अकुंठिता बुद्धि रखनेवाले अप्रतिरथ सम्राट् की वह उसके अनौचित्य पर भर्त्सना करती है, फिर क्या उसे इतना भी बोध नहीं कि गांधर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं ? इतना होने पर भी उसने क्यों अनाचार करने पर कमर कसी ? उसके ऊपर राग का आवरण क्यों चढ़ गया ? अपना तो सर्वस्व उसने दे ही डाला, प्रथम कर्तव्य भी वह भूल गयी। पिता कण्व ने उसे अतिथिसेवा में नियुक्त किया था, परन्तु वह प्रेम-वारुणी का पान करके अपनी सुध-बुध इस तरह खो बैठी कि उसे अपने धर्म का ज्ञान न रह गया। जब शरीरधारी ब्रह्मचर्य मानों दुर्वासा के रूप में आश्रम में उपस्थित होता है तब भी वह सुप्त है। अतिथि-सत्कार कैसा, वह भूल गयी है। दुर्वासा के आगमन के समय शकुन्तला दुष्यन्त के विरह में उसकी प्राप्ति के अर्थ संतप्त हो रही है। उसके विरह-ताप का कोई मान नहीं, उसे किसी अन्य विषय का भान नहीं, परम तेजस्वी रुद्ररूप दुर्वासा के आगमन का उसे किंचित मात्र भी ध्यान नहीं। 'कुमारसंभव' में पार्वती भी शिव के लिए तपश्चरण करती है :

> मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
> तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥

उसमें भी दुर्वासा की भांति ब्रह्मचर्य शिव के रूप में ब्राह्मण का वेश धारण कर पार्वती के समक्ष जाता है। पार्वती की यही परीक्षा है, पर वह इसमें पूर्णतया उत्तीर्ण होती है। उसके 'स्फुरत्प्रभामंडल' में कोई विकार नहीं होता। कठिन तपश्चरण

के पश्चात् भी वह अपने को जानती है, अपने आश्रम को पहचानती है, अतिथि ब्रह्मचारी का सत्कार करती है, शिव मूलरूप में उसको प्राप्त होते हैं। शकुन्तला के पास भी ब्रह्मचर्य परीक्षा के लिए आता है। पर वह उसको नही पहचानती। पार्वती तो पति को चिंता मे थी, उसे तो प्रेम का व्यवहार ज्ञात था। उसका पतन यदि कही हुआ होता तो वह क्षम्य होता, क्योकि उसने तो जानबूझ कर ही इस मार्ग मे पाँव रखा था, परन्तु शकुन्तला ने तो यह रूप कभी जाना ही न था। सदा आश्रम मे रहनेवाली कन्या का अपने पद की रक्षा न करते हुए आश्रमवृत्ति के विरुद्ध आचरण कैसे क्षम्य हो सकता है? यदि शकुन्तला ने मर्यादा का उल्लंघन न किया होता, तो बहुत सभव था कि परीक्षक ब्रह्मचर्य दुर्वासा का रूप छोड कर दुष्यंत बन जाता परन्तु यहाँ तो स्वय ब्रह्मचर्य को आश्चर्य हो रहा था। युगात तक कण्व सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या भी अपचार का एक भोका न सह सके, कितने अनर्थ की बात है! ब्रह्मचर्य बारह वर्ष से अधिक इस कन्या का इस पुनीत आश्रम में शरीर और चरित्र का गठन करता रहा। परन्तु दुष्यन्त के दर्शन मात्र ने उसके शरीर मे यह कौन सी बिजली भर दी जिससे उस क्षणिक-सबधी दुष्यत के सम्मुख इस चिरपरिचित ब्रह्मचर्य को भी शकुन्तला ने ठुकरा दिया? ब्रह्मचर्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी, दुर्वासा का रुद्ररूप व्यक्त होकर पुकार उठा—

> आः अतिथिपरिभाविनि,
> विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
> तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्।
> स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
> न्कथां प्रमत्तः प्रथम कृतामिव ॥

ब्रह्मचर्य का धैर्य छूट गया; क्यों न हो! जहाँ शकुन्तला को आश्रम की निवासिनी होने के कारण ब्रह्मचर्य को सदा

आश्रय देना चाहिए था, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा तो दूर रही उसमे स्वय आकर उपस्थित होने पर भी वह उसकी उपेक्षा करती है । वह चिल्लाकर कहता है, मेरा धन तप है, (तप की आँच से ब्रह्मचर्य के पास कोई फटक नही सकता), मैं तपोभूमि का धन हूँ, तुम मेरे राज्य की प्रजा हो, तुम्हे बराबर मेरी ही पूजा करनी चाहिए, क्योकि मेरे ही भीतर अपनी स्थिति रखने की तुमने दीक्षा ली है, सो स्वय तो तुम मेरी प्रतिष्ठा क्या करोगी मेरे उपस्थित होने पर भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो । मैं स्वय उपस्थित होकर तुम्हें अपनी सत्ता का बोध कराता हूँ, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर, अपने स्खलन पर आश्चर्य नही करती, इसलिए जिसकी चिता मे तुम इस समय निरत हो वह स्मरण कराने पर भी तुमको नही पहचानेगा । कालिदास ने कहा सही है—शकुन्तला की यह स्पर्धा ? शकुन्तला ने सोचा—वह क्या चीज है, मैंने जिस समय अवगुठन हटा कर अपना यह नयनाभिराम भुवनमोहन रूप दिखाया लोभायमान हो जायगा, चुम्बक की भाँति खिच आयेगा । परन्तु व्यवस्थापक धर्मासन से तिरस्कारपूर्वक निर्घोष कर उठा—

भोस्तपोधना, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्या स्मरामि ।
तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणा प्रत्यात्मन क्षेत्रिणमाशङ्कमान प्रतिपत्स्ये ।

इससे बढकर आर्यकन्या के लिए और कौन-सा दड हो सकता है कि वह खुले आम व्यवहारासन पर बैठे पति द्वारा तिरस्कृत हो । 'अभिव्यक्तसत्वलक्षणा' होती हुई भी, उसकी ओर इगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाय । शकुन्तला इस दु ख से जर्जर हो जाती है, फिर जब तप से तप कर वह शुद्ध होती है तब वही दुष्यन्त उसे प्राप्त होता है । तप से तपन के लिए वह कण्व के आश्रम मे नही जा सकती, वह तो ब्रह्मचर्य का पूर्वकाड है, उत्तरकाड तो मरीचि के आश्रम मे, काश्यप के आलोचनात्मक नेत्रो के नीचे है । वह वाणप्रस्थाश्रम है जहाँ के प्रशात वातावरण मे शकुतला का पुत्र ही शैशव मे शब्दो का उच्चारण करता है ।

वहाँ वास करती हुई शकुन्तला से उसका उपहास करता हुआ वाणप्रस्थ नित्य पूछता होगा—'अप्रौढे, तेरा गार्हस्थ्य कहाँ है ?' *गार्हस्थ्य तो शकुतला ने खो दिया था।* ब्रह्मचर्यव्रत-भजन के साथ ही उसका भी नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्योंकर सुखी करता ? ब्रह्मचर्य का सौम्य और स्वाभाविक अंत गार्हस्थ्य में होता है, उसका वाणप्रस्थ में, और उसका भी संन्यास में। जिसकी नींव ही बिगड जाय, उसके और आश्रमों की अट्टालिका किस पर खडी हो ? इस आश्रम में नित्य शकुतला को ग्लानि होती होगी। कालिदास ने शकुतला को कण्वाश्रम में नहीं भेजा, मरीचि के आश्रम में भेजा ! काश्यप नित्य पातिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारण कर शकुतला से पूछता होगा—तेरा पति कहाँ है ? यह तेरा पुत्र कैसा ? तू स्वीकृता है अथवा परित्यक्ता ? उसका दड कितना भीषण है, कोई शकुतला से पूछे ?

राजसभा में शकुन्तला औरों के साथ स्वय भी राजा को धिक्कारती है, उससे झगडती है, परन्तु एक बार भी यह नहीं नहीं कहती कि जिस दोष को व्यवस्थापक और परिपालक राजा होकर तुमने स्वय किया उसका दड मुझे तुम किस अधिकार से दे सकते हो ? दुष्यत राजा आज हैं, जब वह शकुतला को व्यवस्थाधर्म तोडने के अपराध में दडित कर रहा है, चाहे वह उसकी प्रेयसी ही क्यों न हो। जिस समय स्वय दुष्यत ने कण्व के आश्रम में व्यवस्था भग की थी उस समय वह राजा नहीं केवल साधारण प्रेमी था। कम-से-कम शकुन्तला उसे साधा-'तपोवनधर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष'—

राज्ञ परिग्रहोऽयमिति राजपुरुष मामवगच्छथ—

मात्र ही जान कर स्वीकार करती है। इसलिए उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौतीपूर्वक राजा से कह सके कि जब राजा होकर (जिसका कार्य व्यवस्था की रक्षा है) तुमने स्वय वही अनर्थ किया तो एक ही पाप के भागी दोनों में से एक

दड घोषित करे और दूसरा उसे भोगे, यह कैसी दुर्व्यवस्था है ? पर नहीं अब दुष्यत प्रेमी नही है वह केवल राजा है और कुछ नही। वह उस आसन पर शासन की बागडोर धारण किए दड-निग्रह के अर्थ बैठा है जिसे कालिदास न कही धर्मासन, कही कार्यासन और कही व्यवहारासन कहा है। उस आसन का साथी न्याय और दड है, पत्नी और प्रयसी नही। शकुन्तला का दड हो चुका।

अब दुष्यत। उसका दड और भी कठोर है। यद्यपि वह साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपन उत्तरदायित्व को कम करने के लिए अपन को साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परतु नियति का नियामक चक्र उसको पहचानता है। व्यवस्था दुष्यत और शकुन्तला दोनो न तोडी है, दोनो ने समान अपराध किया है, दड दोनो को मिलेगा। शकुन्तला को मिल चुका, पर दुष्यत का दड कौन द ? शकुन्तला तो प्रजा थी, दुष्यत राजा था। राजा सबका दड दे सकता है, क्योकि वह सबसे बडा है, सबका नियामक है। पर उसे दड कौन दे ? कौन उससे बडा है ? मनुष्य तो उसे दड दे नही सकता, क्योकि राजा 'सर्वातिरिक्तसार' एक विशेष व्यक्ति है, सर्वतेजोमय है, पृथ्वी के सारे 'सत्वो को मेरु की भांति वह आक्रात कर उन पर शासन करता है।' वह देवताओ का अश है। जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उसके गर्भ मे लोकपाल प्रवेश करते हैं। सो इद्रादि देवताओ के अश रूप, ऐतरेय ब्राह्मण के मत्रो से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी कालिदास के इस राजा को कौन मानव दड दे सकता है ? उसे स्वय वही दड देगा। नियति उस पर अपना शासन-चक्र रक्खेगी। उसके शरीर मे देवताओ का निवास है, सब मिलकर उसे दडित करेंगे।

छठे अक के आरम्भ मे नागरिक शकुन्तला को दी हुई राजा की अँगूठी दुष्यन्त के पास ले जाता है। राजा के नेत्र अँगूठी

देखकर भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो राजा को विक्षिप्त बना देता। परन्तु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख की स्मृति में भी राजधर्म का संपादन करता है, और अन्यत्र कुछ समय बाद जब प्रथम बार उसका कंठ खुलता है, तब उसकी दीन दशा का बोध करानेवाली उस करुण वाणी का सृजन होता है जो कभी किसी प्रायश्चित्ती ने नहीं कही—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदय सम्प्रति विबुद्धम्॥

'उस समय, हृदय तू किसी नींद सोया था जब प्रिया के बारबार जगाने पर भी न उठा, अब अभागे, असीम दुःख की चोट को मापने उठ बैठा!' दंड का आरंभ हो चुका है। इसकी कठोरता और निर्ममता यदि किसीको देखनी हो तो वह छठे और सातवें अंकों के दुष्यन्त को देखे। वहाँ उसके दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शन हो सकता है। उसका हृदय दुःखातिरेक से जाग उठा है, वही जो प्रिया की कोमल स्मृति के आघातों से नहीं जागा था। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी अभ्यर्थना कहाँ तक करोगी—यद्यपि की नाईं आचरण करती हो—मुझ स्वयं आए हुए को देख कर भी औचित्य नहीं पालती, इसलिए बारबार स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा। शकुन्तला के पक्ष में तो यह शाप पूरा उतरा, परंतु क्या दुष्यन्त के पक्ष में भी सत्य सिद्ध हुआ? हाँ, उसे शकुन्तला ने बारबार याद

रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया ही था। अब वह क्या करे? दुःखावेग निरन्तर बढ़ता जाता है और उसकी पराकाष्ठा तब होती है जब वह इन्द्रलोक से लौट कर मरीचि के आश्रम में आता है, और वहाँ अपने तनय सर्वदमन को गोद में लेता है। माँ के पहुँचने पर बालक उससे पूछता है—'माँ, भला यह कौन है?' दुःख की मारी परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उसके भयंकर दंड का स्मरण कर पुत्र से कहती है—'ते भागधेयानि पृच्छ!' 'बेटे, अपने भाग्य से, अपने भाग्य-स्रष्टा से पूछ?' बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे? उसका भाग्य कहाँ है? किसने उसका सृजन किया? उसके इस भाग्य का जिसके फलस्वरूप उसका पिता व्यवहारासन से न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्ला कर कहता है—तुम मेरे नहीं हो—उस भाग्य का स्रष्टा कौन है? शकुन्तला और दुष्यंत का अपावन प्रेम! वह प्रेम जिसने ऋषिप्रणीत पवित्र अनुशासन की उपेक्षा कर आश्रम की व्यवस्था को भंग किया। 'ते भागधेयानि पृच्छ' ही 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की कुंजी है जिस से इस रहस्य की पेटी के भेद का परदा हटता है। सारे दुःखों को समेट कर शकुन्तला ने इस वाक्य का उच्चारण किया है। कालिदास की कला ने इस व्यंग में अकथनीय मार्मिक चोट भर दी है। एक बार दुष्यंत की सारी शक्ति क्षीण हो गयी, वही शक्ति जो दुर्जय असुरों का अभी-अभी संहार कर विजयी हुई थी। वह अब खड़ा नहीं रह सकता, सोचता है—'क्या मैं वही दुष्यंत हूँ जिसने उत्सुक समाज के समक्ष खुले दरबार में कह दिया था—तू मेरी नहीं है, चली जा?' वह शकुन्तला के चरणों पर गिर जाता है, और वह उसे उठा कर हृदय से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धाराएं निकल कर प्रायश्चित्त रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दंडरूप भट्टी में जल कर जब उनका पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्ररूपी राग उत्पन्न होकर उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठकर भर देता है।

पति की इच्छा मात्र पर प्राण देनेवाली शकुन्तला के चरणों पर दुष्यन्त गिरे ! कितना बड़ा गौरव है ! पतिरूपी देवता उसके चरणों पर गिरता है, इसका उसे कितना दुःख है ! 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अर्थ सिद्ध हो गया। वह पहिचान ली गयी।